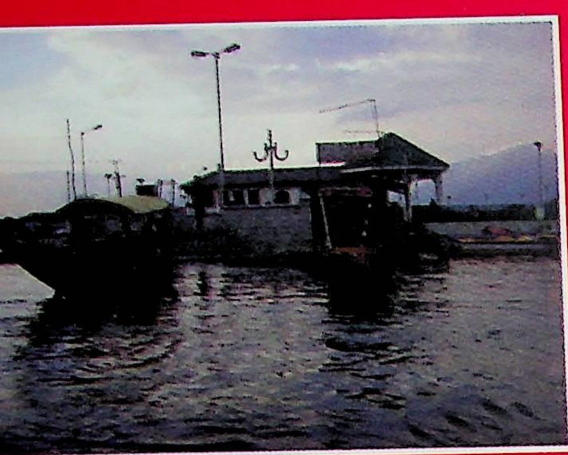
मेरा कश्मीर

अतीत और वर्तमान

डॉ० फूलचन्द्रा



ात के समय नेहरु पार्क सूना था

डल में चान्दनी रात में कोई नौका विहार
नहीं कर रहा था

झींगुर की आवाज़ सुनाई दे रही थी

डल की सूनी लहरें 'छपाक' के शब्दों से
कुछ कह रही थी

सब लोग घरों को भाग रहे थे

मानो मौत का दैत्य आगे बढ़ रहा था

और सब को डरा रहा था

वहाँ मौत का सन्नाटा था – मौत का।

मेरा कश्मीर

अतीत
और
वर्तमान

डॉ. फूल चन्द्रा

प्रथम संस्करण	:	मार्च 2007
प्रति	:	2100
प्रकाशक	:	डा० फूल चन्द्रा 1, हीरा नगर, पटियाला पंजाब–147001, भारत
दूरभाष	:	0175-2212444, 09316200944
सम्पादन	:	प्रोफेसर इन्द्रनाथ चावला
कम्पयूटर ग्राफिक्स	:	लिसी मैथ्यू एवं मुकेश
फोटोग्राफ	:	डा० फूल चन्द्रा एवं घरेलू संग्रह
कवर डिज़ाइन	:	राजा जी (पटियाला)
मुद्रक	:	एन. बी. सी. प्रेस 76/2, इस्कॉन टेम्पल रोड ईस्ट ऑफ कैलाश नई दिल्ली–110065
दूरभाष	:	011-41690690, 41622600

यह पुस्तक लेखिका की मूल भावनाओ पर आधारित है, लेखिका द्वारा पूर्णतया कोशिश की गई है कि प्रस्तुत विवरण सही एवं सत्य हो। इस पुस्तक को पढ़कर किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने की पूर्ण जिम्मेवारी स्वयं पाठक की होगी। यह पुस्तक कशमीरी संस्कृति को जीवित रखने के लिए लेखिका का एक प्रयास है।

मूल्य : **225.00**



समर्पण



मेरे पति

डा० तेज किशन

को समर्पित जिनके

निरन्तर सहयोग और प्रोत्साहन

के बिना मेरी यह

रचना

कभी संभव नहीं हो सकती थी।

श्रद्धांजली

उन मानवीय आत्माओं को

जो किसी भी धर्म, संस्था, वर्ग या देश से

सम्बन्धित थे जिन्हें आतंकवाद के

दैत्य ने बेमौत मार डाला!

उन्हें अपनी और अपने विस्थापित समाज

की ओर से श्रद्धांजली पेश करती हूँ।



विषय-सूची







भूमिका



मेरा जन्म 1946 ई0 में श्रीनगर के हब्बा कदल में, बालयारबल मुहल्ले में हुआ। मेरा बचपन इसी जगह बीता। हमारा घर जेहलम नदी के किनारे पर था। मेरे माता–पिता ने 1947 का कबाइलियों का आक्रमण देखा था। वे कहते थे, 'कि कबाइली, बारामुल्ला तक पहुँच चुके थे। श्रीनगर पहुँचने में केवल और एक रात बाकी थी, मेरी मां बहुत चिंतित थी। उसने मुझे और मेरी बहन को लेकर जेहलम में छलांग लगाने की सोच रखी थी। परन्तु आक्रमण थमा। कबाइली, श्रीनगर तक पहुँच न सके, अतः हमारी जान बच पाई।

मेरे पिता श्री रघुनाथ सफाया एम.ए. हिन्दी और एम.ए. संस्कृत एवं पी. एचडी. थे। वे साहित्यकार थे, उनके अनुसंधान, का क्षेत्र आध्यात्म रहा। मेरा जीवन उनके साथ–साथ बड़ा हुआ। उनकी हिन्दी और साहित्य की लेखनी का असर मुझ पर पड़ा। हिन्दी और साहित्य मेरे जीवन का अंग बना।

मेरी मां मुझे डॉक्टर बनाना चाहती थी। वह उसमें सफल हुई। मुझे श्रीनगर में मैडिकल कालिज में दाखला मिला। फिर अमृतसर में माईग्रेशन करवा वहां पढ़ी। मैं डॉक्टर बनी। एम.डी. गाईनी में किया। सफल स्त्री रोग विशेषज्ञ बनी, और मैडिकल कालेज में गाईनी की सबसे उच्चतम पद पर कार्यरत्त रही।

मेरे पिता जी ने एम.ए. बी.एड. किया था.। उन्हें श्रीनगर में नौकरी नहीं मिली। वे सब शिक्षा संस्थानों की खाक छानते रहे। अतः 1952 में उन्हें पलायन करना पड़ा। फिर विभिन्न शहरों में रह कर, अन्त में चण्डीगढ़ में आ बसे, वह शिक्षक थे। शिक्षा विभाग के डायरैक्टर पद से रिटायर हुए और 1994 में उनका देहान्त हो गया।

मै आरम्भ के दस साल दादी के साथ कश्मीर में ही रही। पिता जी के पलायन के कारण वह अकेली थी। वे बाल विधवा थी। उन्होंने मुझे अपने

साथ रखा। मुझसे वे बहुत प्यार करती थी। मैं उनके साथ पुराने मकान में रहती थी, जिसे उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनका स्नेह, कार्यशैली, जीवनक्रम, संध्यादीप, फिरन, तरंगा और पूंच मेरे अन्तर में खुब गये थे। वह सब मुझे बहुत अच्छे लगते थे, वह सुबह–सुबह 'ब्रांध फश' देती थी, 'ठोकुर कुठ' में ठाकुर जी की पूजा करती थी। उसके साथ–साथ मैं भी लगी रहती थी। हमारा नया घर जो दादा ने बनवाया था और बनवाने के बाद स्वर्ग सिधार गये थे, वहां दादी कभी नहीं रही। मेरे माता–पिता प्रतिवर्ष कश्मीर आते, तो हम उसी घर में रहते थे। नदी किनारे मेरा घर, जेहलम नदी की लहरों को देखना, किश्ती में सैर करना, दादी के साथ घाट से सब्ज़ी लाना, ग्वालन से दूध दहीं लाना, नानबाई से रोटी लाना, यह मेरा काम था।

दस वर्षों के बाद पढ़ाई के कारण मुझे अपने मां बाप के साथ जाना पड़ा, और चंडीगढ़ में पढ़ने लगी। हम प्रतिवर्ष कश्मीर आते, अपने घर में रहते। अतः मेरा घर मेरे लिए एक आस्था का केन्द्र रहा।

1963 में मेरा दाखिला श्रीनगर मेडिकल कालेज में हुआ। मैं फिर श्रीनगर आई। कालेज घर से दूर था। रोज पैदल आना जाना कठिन था। अतः मुझे करणनगर मैडिकल, कालेज के होस्टल में रहना पड़ा। मेरी दादी श्रीनगर में ही थी। प्रति सप्ताह मैं उसके पास आती थी। वह मेरे लिए ओकचोर पर खाना बनाती, लाड़ करती और मुझ में उसकी छवि और अपने घर की संस्कृति आत्मसात होती रही।

1968 में मेरा विवाह चंडीगढ़ में एक पारम्परिक कश्मीरी परिवार में हुआ। वे लोग श्रीनगर में गणपतयार के रहने वाले थे। वहां उनका चार मंजिला मकान था। पापा जी का परिवार संयुक्त परिवार था। पापा जी घर के मुखी थे। उनके दो भाई, अपने पुरखों के घर में श्रीनगर में रहते थे और वह तीसरे भाई के साथ चंडीगढ़ में रहते थे। वे प्रतिवर्ष कश्मीर, अपने घर जाते थे। घर के सारे फैसले वही करते थे। सब बच्चों की शादियां, कश्मीर में हुई। हम भी श्रीनगर प्रतिवर्ष छुट्टियों में जाते रहे।

संयुक्त परिवार होने के कारण मैं उस घर की ज्येष्ठ वधु थी। मुझे घर में पारम्परिक महिलाओं के साथ, अपनी डॉक्टरी छोड़, उनके स्तर पर रहना पड़ा। चूल्हा जलाना, खाना बनाना, विवाह और घर के अन्य उत्सवों पर काम करना, सब मेरे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया था। 'ब्रांध' से 'कॉनी' तक ऊपर नीचे भागना घर के प्रत्येक व्यक्ति की देखभाल करनी,

मेरा परम कर्त्तव्य बना। ज्यों–ज्यों मैने परिवार, कश्मीरी सभ्यता को अपनाया, श्रीनगर के वातावरण में रहने की आदी हुई, त्यों–त्यों, घर से बहुत लगाव हुआ और मुझे परिवार से प्यार एंव सत्कार मिला। पापा जी की संयुक्त परिवार में रहने की कला सीखी और कश्मीरी संस्कृति को अपनाया। हम पंजाब में भी भाषा, खान–पान, डेजहोर, कश्मीरी संस्कृति को प्राथमिकता देते रहे।

हम कश्मीर प्रतिवर्ष जाते तो घूमने अवश्य जाते। सारा परिवार कभी–कभी डोंगे में खीर भवानी जाता था। सब धर्म स्थल घूमते और मुगल गार्डन, चश्मेशाही आदि जगहों पर पिकनिक मनाते थे।

1987 में मेरे देवर की शादी थी। हम श्रीनगर जीप में आये। शादियों में मेरा योगदान बहुत रहता था। मैं अपने जी जान से काम करती। अतः पंद्रह दिन की छुट्टी लेकर आये थे। उन दिनों बहुत बरखा हुई। बनिहाल का रास्ता बन्द हो गया। हमें वहां एक महीना रहना पड़ा। इस समय हमने कश्मीर का चप्पा–चप्पा देखा। सारे परिवार को लेकर, मानसबल झील, वुल्लर झील, पहलगाम, गुलमर्ग अहरबल, प्रत्येक जगह गये। तब हमें यह मालूम नहीं था, कि यह हमारी श्रीनगर की अन्तिम यात्रा होगी। रास्ते खुले, हम पंजाब वापिस आये और वहां के प्राकृतिक सौन्दर्य को और वहां बिताये प्रत्येक पल को याद करते रहे।

1990 में तूफान आया। श्रीनगर के हालात बिगड़ गये। हमारा परिवार बिखर गया। घर में रहने वालों को सब सामान वहीं छोड़, जान बचानी पड़ी। वे बड़ी मुश्किल से वहां से निकले। कोई जम्मू आकर रहा, कोई दिल्ली जाकर बसा। उनके पलायन ने हमें भी तोड़ कर रख दिया। उन्हें फिर शून्य से जीवन शुरु करना पड़ा। जो कुछ बचा था, वह था उनका धैर्य और सरकारी नौकरी और थोड़ा सा संचित धन, जो बैंक में था। उनकी वेदना हम से देखी न गई। संयुक्त परिवार चाहे बिखर गया था, परन्तु आपसी तालमेल बना रहा, जो आज तक भी है। हम उनकी मानसिक त्रासदी को सम्भालते रहे, हौंसला देते रहे और जीवन को नये सिरे से शुरु करने के लिए प्रोत्साहन देते रहे और यथाशक्ति सहायता देने के लिए आश्वासन देते रहे।

इन सब प्रक्रियाओं ने मुझे झंजोड़ कर रख दिया। हब्बा कदल से शुरु हुआ, सफर, गणपतयार से होता हुआ 1990 में चंडीगढ़ जाकर थम गया। हम दुबारा श्रीनगर जा ही नहीं पाये।

मेरा हिन्दी का सफर बहुत लम्बा रहा। घर में पिता जी के आदर्शों पर चलती रही। उनके कारण हिन्दी मेरे जीवन का अंग बनी। हिन्दी साहित्य, आध्यात्म और लेखन उनसे विरासत में मिली। घर, परिवार, परम्परा, स्त्री विशेषज्ञ बनने की लालसा, मां से मिली और संयुक्त परिवार, कश्मीरी संस्कृति, रीति रिवाज, दादी और पापा जी से।

एक कामयाब स्त्री रोग विशेषज्ञ होने के बावजूद मुझ में एक लेखिका का हृदय रहा। जीवन के हर पल को मैने अपनी लेखन में लिखा। मैं अपने जीवन में व्यस्त होने के बावजूद भी जो कोई एकान्त पल मिला, मैंने उसे अपनी चार लाइनों में लिखा और उन्हें संकलित करती रही और किसी न किसी पत्रिका में छापने के लिए भेजती रही। स्त्री रोग विशेषज्ञ होने के कारण मैने नारी के हर पहलू को देखा। उसकी वेदना, स्नेह और कोमलता देखी और उनसे प्रभावित हुई। उनके बारे में लिखती रही। श्रीनगर के प्रति जहां मेरा बचपन, यौवन बीता, 1990 के बाद एक विरह की भावना पनपने लगी। दुबारा न जा पाने के कारण, अपने घर, वतन को देखने की लालसा बढ़ने लगी। इस एहसास ने मुझे पल–पल सताया और बीते दिनों को याद करती रही। मैं उन भावनाओं को कविता के रूप में व्यक्त करती रही। सबसे पहले कविता 'मरने से पहले मुझे मेरी मिट्टी से मिला दो' लिखी। धीरे–धीरे अन्य कविताएं लिखी, शिवरात्री पर 'शिवजी का करो अभिनन्दन', दहेज प्रथा पर, 'लाल बिन्दिया का निशान', वृद्धा अवस्था पर 'कौन जाने', 'मेरी जेहलम' आदि कवितायें रची। वे दिल्ली की मासिक पत्रिका 'कोशुर समाचार' और चण्डीगढ़ की 'सुन्दर वाणी' में छपती रही। प्रो0 सप्रू जी द्वारा संकलित–संपादित 'व्यथा वितस्ता की' पुस्तक में तीन कवितायें छपी। इन सब कविताओं के छपने से मुझे प्रोत्साहन मिलता रहा और आज यह पुस्तक लिखने का साहस कर बैठी।

प्रो. चमन लाल सप्रू जी 'कोशुर समाचार' क़े हिन्दी भाग के सम्पादक हैं। उन्होंने अपने परिश्रम से हिन्दी को कश्मीरी समाज में एवं विश्व में सराहनीय स्थान दिया। वे मेरे पिता जी के मित्र हैं। उन्होंने पिता जी के क्रियाकलापों की सदा प्रशंसा की। उन्होंने मुझे असीम प्यार, प्रोत्साहन और सदा आर्शीवाद दिया। उन्होंने मेरी कविताओं को संशोधित किया और 'कोशुर समाचार' में छाप कर कृतार्थ किया। उनकी मैं सदा आभारी रहूँगी।

यदि मैं अपनी हिन्दी लेखनी की यात्रा पर नज़र डालूं तो याद आता है कि कितने हिन्दी लेखकों का मुझे सहयोग मिला है। प्रो इन्द्रनाथ चावला अभिन्न मित्र रहे। भूगोल के प्रोफेसर होकर उन्होंने पुस्तकें लिखी हैं, 'रोहतांग के उस पार' 'व्यास तीरे' हिन्दी में तीन यात्रा संस्मरण लिखे हैं। 1972 में उन्होंने मुझे अपनी रचनायें भेंट की। आज तक मैने संजो कर रखी हैं। उससे प्रेरित होकर मैं सदा कुछ न कुछ लिखती रही। वह मेरी भावनाओं को समझते हैं। चाहे वर्षों बाद मिलते हैं, परन्तु मैं उन्हें अपनी रचनाएं दिखाती हूँ और सहायता लेती हूँ।

सुभाष काक द्वारा लिखित 'Autumn Leaves' उनके पिता की आत्म कथा है। जिसमें उन्होंने कश्मीर में सथू से लेकर होनोलू तक का सफर दर्शाया है। यह पुस्तकें अंग्रेजी में है, परन्तु कश्मीर की संस्कृति वहां का रहन सहन, जीवन शैली बताती है। अतः इस पुस्तक ने मुझ में कश्मीर के प्रति लिखने का बीज बोया।

कश्मीरी समिति चंडीगढ़ के अध्यक्ष श्री बी. एल. साधु जी का मेरे जीवन में बहुत योगदान रहा। वह मुझे 'सुन्दर वाणी' में लिखने के लिए प्रेरित करते रहे और मेरी कविताओं को जन सामान्य तक पहुँचाते रहे।

डा0 जियालाल हण्डु जी हिन्दी साहित्यकार है, जिन्होंने अकादमी पुरस्कार प्राप्त किया, मेरे पिता के धर्म भाई, मित्र और सहयोगी रहे। श्री जियालाल जी मुझे बहुत प्यार करते हैं। उनकी हिन्दी कहानियों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। वह मुझे सदा प्रोत्साहित करते रहे कि मैं कुछ लिखूं और उन्हें दिखाऊं। उनमें वे सब खूबियां हैं जो मेरे पिता जी में थी। मैं उनमें अपने पिता का रूप महसूस करती हूँ।

पुस्तक लिखते समय मैने डॉ रूप किशन भट्ट जी को याद किया। वह कश्मीरी भाषा के विशेषज्ञ हैं। उनसे परामर्श करने से और उन्होंने मुझे इस राह पर डाला और मैं यह पुस्तक लिख पाई।

पिछले बीस वर्षों मैं कश्मीर जा नहीं सकी। इसने मुझे विरह की भावना दी। प्रतिपल मैं कोशिश करती रही कि श्रीनगर जाऊं। परन्तु वहां के विस्थापन की त्रासदी से उभर नहीं पायी और मन में दहशत थी। समय धीरे–धीरे कुछ सामान्य हुआ और लोग श्रीनगर जाने लगे। मुझे स्त्री रोग पर नई दवाई के बारे में स्त्री रोग विशेषज्ञ के रूप में अपना विचार व्यक्त करने के लिए निमन्त्रण मिला। मैं उत्साहित हुई और अपने पति के साथ कश्मीर जाने के

लिए तैयार हो गयी और डल झील के सामने होटल में कमरा बुक करवाया। हवाई रास्ते से श्रीनगर गये। सड़क के रास्ते की यादें दोहरा न सके। वहां पहुँच कर, हमने घूमने का मन बनाया। यही सफर मेरी साधना थी। बीस वर्ष बाद मैं कश्मीर गई थी। वहां अपना घर, हब्बा कदल, गणपतयार, वहां की गलियां, बाज़ार घूमें। पर्यटक स्थल देखे, डल झील में शिकारे में घूमे। उन सबमें अपना अतीत ढूँढती रही। मेरा अतीत आज से भिन्न था। हृदय विधारक दृष्य देख कर मेरा हृदय चीत्कार कर उठा। मैने उस सब की कल्पना नहीं की थी। समाचार पत्रों और टेलीविजन देखने से भावनायें उद्वेलित नहीं होती। परन्तु जब हम अपनी आंखों से, उजड़ा हुआ मंजर देखते हैं तो मन में ठेस पहुँचती है और मन द्रवित हो उठता है। मैं इस सदमे को सहन नहीं कर पाई। मुझे लगा कि हमारी संस्कृति हमारा पहरावा, खान–पान, रहन–सहन सब कुछ लुप्त हो चुका है। हम कश्मीरी पंडित सारे संसार में बिखर गये, परन्तु हमारी जड़ें जो कश्मीर में हैं, उन्हें भूल गये।

मैं भौचक्की सी थी। हमारा कश्मीर उजड़ चुका था। हमारी संस्कृति लुप्त हो चुकी थी। मैने उसे फिर दोहराना चाहा। मैं प्रत्येक रिश्तेदार और मित्रों के घर गई। हर व्यक्ति से कहा कि विस्थापन के बाद, तुम्हारे पास जो कुछ भी है उसे मुझे दिखा दो। प्रत्येक व्यक्ति ने मुझे सहयोग दिया। अपने डिब्बों में से, ट्रकों में से, घरों के स्टोर से, जिसे जो मिला, उन्होंने मुझे दिखाया। मैने उनके चित्र लिये। उन्हें एकत्रित करती रही।

श्री ओमकार नाथ वंगू जी ने मुझे अपने घर में पड़ी राजतरंगिनी के बारे में बताया। सहज की कार्यकृति और उनके योगदान के बारे में बताया। उन्होंने मुझे कश्मीरी पहरावे के बारे में अवगत कराया और जाने कहां–कहां से चित्र लाकर मुझे दिये।

श्री ब्रजनाथ रैना जी ने हमारे पहरावे के चित्र अपनी ऐलबमों में से ढूँढ ढूँढ कर दिये। मुझे पहरावे और संस्कृति के बारे में समझाया।

बिटू जी के विस्थापन के पांच साल बाद अचानक मिली फोटो रील में मुझे कश्मीरी विवाह के चित्र मिले। यह विस्थापन के बाद की उनकी बची–खुची धरोहर थी। श्री हीरालाल वंगू जी ने पहरावे और अपनी संस्कृति की पुरानी तस्वीरें मुझे दीं।

विनोद वंगू जी ने मुझे अपने पारम्परिक बर्तन, राजतरंगिनी की पुस्तक दी। वे सब मैने चित्रित की। यह सब कुछ हमारी धरोहर को दर्शाता है।

अपने प्रत्येक रिश्तेदार और मित्रों के सहयोग ने मुझे अपनी संस्कृति को चित्रित करने का मौका दिया। उन्हें क्रमानुसार लगा कर उन्हें समझा और फिर इस पुस्तक के रुप में लिखा।

1892 से लेकर 1997 तक का कश्मीरी और 1997 से आज तक के कश्मीर में अन्तर था। वह अन्तर मैने उन तस्वीरों और पुरानी बातों को याद कर और आज के मंजंर को देख कर समझा और महसूस किया कि हम कितने अभागे हैं। हमारे घर जल चुके हैं, हम बिखर चुके हैं, सब कुछ खत्म हो चुका है। परन्तु मेरा यह प्रयास है, कि हमारा कश्मीर कैसा था, हमारा रहन–सहन, मकान, कदल (पुल), गलियां, नानबाई, कश्मीर की हस्त कला और शिल्पकला, हमारी विरासत बर्तन जैसे कि वह मैने चित्रों में दर्शाया है। मुझे लगा जो हमारी संस्कृति लुप्त हो चुकी है उस संस्कृति को संजो कर रखूँ, ताकि प्रत्येक कश्मीरी परिवार उसे देखे पढ़े, और अपनी आने वाली पीढ़ी को दिखाये, कि हम क्या थे, कहां से आये, कैसे रहते थे, क्या खाते थे, क्या पहनते थे, और उन्हें अपनी संस्कृति से अवगत करायें, कि हम लुप्त नहीं हुए, विस्मृत जरुर हो गये हैं। मेरा लेख और चित्रों का संकलन आने वाले दिनों में हमारी कश्मीरी सभ्यता को जीवित रखेगा। यह मेरा अपनी मातृभूमि के प्रति संकल्प–प्रण था, जिसे मैं 'मेरा कश्मीर अतीत और वर्तमान' के रूप में प्रस्तुत कर रही हूँ।

– डॉ० फूल चन्द्रा

हमारी सामाजिक संस्कृति

कश्मीरी समाज हज़ारों वर्ष प्राचीन समाज है। कश्मीर घाटी में समय–समय पर परिवर्तन आते रहे जिनका कश्मीरी सभ्यता पर प्रभाव पड़ता रहा। जो भी शासक आये, उनके शासन काल में सामाजिक बदलाव आया। उनका उल्लेख पुस्तकों में होता रहा। कश्मीरी पंडित समाज की त्रासदी यह थी कि इसमें अकस्मात परिवर्तन आये और जो परिवर्तन 1990 के बाद आया, उसने हमारी सामाजिक धरोहर को धूमिल कर दिया। मेरे अपने जन्म 1946 के बाद से आज तक जो कुछ भी याद कर सकी, पुस्तकों से पढ़कर और अपने बड़े बुजुर्गों से पूछ कर समझ सकी, उसे मैंने इन पन्नों में लिखने की चेष्टा की है।

घूंघट

हमारी संस्कृति में बड़ों के प्रति बहुत सम्मान होता था, परन्तु घूंघट की प्रथा कहीं नहीं दिखाई देती थी। तरंगा और फिरन में कहीं भी घूंघट की सम्भावना नहीं है। जो मैने देखा है वह यह था कि बड़े बड़ों के सामने जाने में झिझक होती थी, और अगर बैठते भी थे, तो थोड़ा ओट करके, और दायें हाथ से फिरन की बाँह से मुँह ढाँप लेते थे। उसे 'नोर' दियुन कहते थे।

घूंघट केवल दुल्हन का होता था और विदाई के समय, शाल ओढ़ कर बड़ा सा घूंघट निकाल उसकी विदाई ली जाती थी।

धीरे–धीरे घूंघट की थोड़ी सी भी जो प्रथा थी, वह भी लुप्त हो गई है।

परिवार नियोजन

आम तौर पर परिवार नियोजित ही होते थे। प्राचीन परिवारों का इतिहास अगर दोहराया जाये, तो पता चलता है कि चिकित्सा के अभाव होने के

कारण, मृत्यु दर बहुत था। पुरुषों के तीन–तीन चार–चार विवाह होते थे। प्रसवपीड़ा में सहायता न मिलने के कारण स्त्रियों और बच्चों की, मृत्यु दर बहुत थी। अतः परिवार छोटे ही रह जाते थे।

पंड़ित लोग पढ़े–लिखे होने के कारण, उन्होंने जल्दी ही अपने परिवार सीमित कर लिये एक, दो, या तीन बच्चे होते हैं, चाहे पुत्र हो या पुत्रियाँ।

पुत्र-प्राप्ति

हिन्दू समाज की तरह पुत्र का होना अनिवार्य समझा जाता है। पुत्र दाह संस्कर करेगा, और अंतिम क्रिया करेगा, तभी मोक्ष मिलेगा, यह रिवाज अभी भी है। परन्तु पुत्र प्राप्ति के लिये वधु को कभी दुत्कारा नहीं जाता था। पुरुष का पुत्र प्राप्ति एक पत्नी के होते, कभी पुर्न–विवाह नहीं किया जाता था। संयुक्त परिवार होने के कारण घर में कोई भी जेष्ठ पुत्र इन सब रीति रिवाजों को निभाता था।

पुत्री का सत्कार

पुत्र और पुत्री को लगभग बराबर का सत्कार मिलता था। शादी होने तक पुत्री का भी जन्म दिन, कहानेथंर, सोन्दंर, (जातिकर्म, चूडार्कम) आदि, क्रियायें, पुत्र और पुत्री दोनों की एक सी की जाती थी। पुत्री का पूर्ण सत्कार, बेटी के रूप में और फिर बहू के रुप में, और बाद में माता के रूप में किया जाता था।

शिक्षा

पहले केवल पुत्रों को ही पढ़ाया जाता था। पुत्रियों को घरेलू काम काज सिखाया जाता था। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया। दोनों पुत्र और पुत्री को पूर्णतयाः शिक्षा प्रदान किया जाने लगा। अब पुत्रियों या बहुएं भी कामकाजी महिलायें बन गई, क्योंकि माता–पिता ने उनकी शिक्षा पर पूरा ध्यान देना शुरु किया था।

दहेज प्रथा

यह एक सामाजिक कुरिति थी। यह दिन–ब–दिन बढ़ती जा रही थी। विस्थापन के बाद भी इसमें कोई बदलाव नहीं आया। सब कुछ लुट जाने के बाद और दूसरे प्रान्तों में बस जाने के बाद भी पारम्परिक ढंग से विवाह

रचाये जाते हैं। दहेज प्रथा का कोढ़ आज तक साथ चल रहा है। हमारा समाज, लम्बी शादियां, दहेज प्रथा, घर अचुन, बहुत सारे प्रीति भोज के रीति रिवाजो से उभर ही नहीं पाया है।

'प्रूग', प्रति त्योहार के दिन, मां बाप को बेटी के ससुराल वालों को तोहफे भेजने पड़ते हैं, जो उन्हें कंगाल कर देता है। कवियत्री 'ललदेयद' के शब्द भी यहीं जताते हैं, कि उसके समय भी दहेज प्रथा के नाम पर बहू से दुर्व्यवहार होता था।

सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध सरकार ने गेस्ट कन्ट्रोल, जैसे आदेश निकाले, परन्तु कश्मीरी समाज ने उन सब का कोई न कोई तोड़ निकाला, और अन्त में गेस्ट कन्ट्रोल आदेश धरा का धरा ही रह गया। सरकार ने इसे सामाजिक सुधार लाने के लिए किया था, जो वह कर ना सके।

विधवा विवाह

1947 से पहले कश्मीरी विधवा महिला का पुर्न विवाह नहीं होता था। वह सारा जीवन विधवा बनकर ही काटती थी, परन्तु विधवा का सामाजिक बाहिष्कार नहीं होता था। उसे उसकी पदवी के अनुसार पूरा सम्मान दिया जाता था। संयुक्त परिवार होने के कारण ज्यों-ज्यों उसकी पदवी बढ़ती थी, उसे उसके पूर्ण अधिकार दिये जाते थे। जब वह घर की मुख्य गृहणी होती थी, उस समय वह पूरा आदेश चलाती थी।

हमारे समाज में बिन्दी सुहागन की निशानी नहीं थी। यह एक धार्मिक रीति थी। अतः बिन्दी और डेजहोर, चूड़ी, पति के देहान्त के बाद, भी विधवा औरतें इन्हें नहीं उतारती थी। फिरन में सफेद नरिवार विधवा होने की निशानी होती थी। रंगदार कपड़े भी पहनने की कोई मनाही नहीं थी।

विधवा विवाह, नहीं होता था। वह अपना जीवन ससुराल में ही बिताती थी। दत्तक पुत्र लेने के लिए कोई कानूनी दस्तावेज नहीं होते थे। बच्चा न हो तो बच्चा गोद ले लेते थे। मेरी दादी बहुत जल्दी ही विधवा हो गई थी। उनके कोई बच्चा भी नहीं बचा था। अपितु उन की सास ने अपनी बेटी का पुत्र उनके पति के मरनोपरान्त, उनकी गोद में डाला था। जिसके साथ उन्होंने जीवन बिताया। मेरे पिता जी ने उनके पूर्ण जीवन काल में अपना धर्म निभाया, और उनकी चिता को अग्नि दी।

पुरुषों का पुर्नविवाह

स्त्रियों की मुत्यु दर बहुत हुआ करती थी। गर्भ अवस्था में, और प्रस्व पीड़ा में सहायता न मिलने के कारण, औरतें बहुत मरती थीं, और विधुर पुरुषों के पुर्नविवाह जल्दी हो जाते थे। इसके उदारहण हमारे अपने ससुराल के घर परिवार में है। दादा जी के तीन विवाह हुए थे, और परदादा के दो विवाह हुए थे। इसी प्रकार अन्य लोगों के भी उदाहरण है कि जिनके कई विवाह हुए थे, परन्तु यह सब पत्नी के मरनोपरान्त होता था।

हमारे परिवारों में जाने कितने पुरुषों के दो–दो, तीन–तीन विवाह हुए, उनके दहेज के बरतन और वरासत जो 'बान खोत' में थीं वह वहीं रह गई। विस्थापन से, लुट जाने से और घर जल कर खण्डर बन जाने से हम उन सब चीजों को तरस्ते रहे। हमें वरासत में कुछ न मिला।

बाल विवाह

उस समय बाल विवाह बहुत प्रचलित था। सन् 1800-1900 तक अपने ही परिवार में बाल विवाह के कई उदाहरण है। मेरी दादी केवल 12 वर्ष की थी और मेरी सासु जी 10 वर्ष की थीं, जब उनके विवाह हुए। इतिहास बताता है कि श्रीमति कमला रैना पंडित जवाहर लाल नेहरु जी की पत्नी केवल 16 वर्ष की थी जब उनका विवाह हुआ। 1947 के बाद विवाह की उमर धीरे–धीरे बढ़ने लगी। पुत्रियों को पढ़ाया जाने लगा, फिर कामकाजी महिलायें बनीं, और फिर जिस प्रकार से सारे भारतवर्ष में बदलाव आया, उस प्रकार से कश्मीरी लड़कियों के विवाह की उमर में और पुर्नविवाह में बदलाव आया।

तलाक

कश्मीरी समाज में तलाक नहीं होता था। युवती अपने ससुराल में कितनी भी यातनाएं क्यों न सह रही हो, उसे उसी परिवार में रहना पड़ता था। यह माता पिता की आज्ञा होती थी। शायद इन्हीं यातनाओं ने ललेश्वरी, अरिनमाल जैसी कवित्रियों को जन्म दिया।

स्त्रियों का कामकाज में योगदान

ग्रहस्थ के काम दो भागों में बंटे होते थे, जैसे रसाई बनाना, कपड़े धोना आदि और दूसरे काम जैसे घर लीपना, चरखा चलाना, चक्की में आटा

पीसना, बड़े ओखल (कँज और मुहुल) में धान कूट कर चावल निकालना आदि, यह सब स्त्रियों को ही करने होते थे।

धीरे-धीरे महिलाओं का काम केवल खाना बनाना बर्तन साफ करना और कपड़े धोने तक ही रह गया। बाद में उनका काम काजी महिला बनने से, और आधुनिकीकरण हो जाने से धान कूटना, चरखा कातना, चक्की पीसना, और घर लीपना, सब समाप्त हो गये। इन सब बातों का मुझें बोध है। घर में महिला का सम्मान होता था और बाहर के कार्यों का फैसला तो पुरुष ही करते थे; परन्तु उनसे परामर्श अवश्य लेते थे।

अन्तरजाति विवाह

इसमें बहुत संकोच होता था। ऐसे विवाह, प्रेम विवाह होते थे, इन विवाहों के लिए मान्यता नहीं दी जाती थी। आज तक प्रथा अनुसार व्याह शादी में दूल्हे या दूल्हन का चयन, उनके मां बाप ही करते हैं। मां बाप की मान्यता से विवाह होता है। हिन्दु मुस्लिम अन्तर जाति विवाह नहीं होते थे। उसमें, बड़ों की अवहेलना करने के बाद, अलग घर बसाना पड़ता था।

हमारे कश्मीरी समाज में भी वर्ग होते थे। उन विभिन्न वर्गों में भी आपस में विवाह नहीं होते थे। जैसे कारकून को गुरु जी और बुहिर परिवार में विवाह नहीं होता था। शहरी लोग, ग्रामीण परिवार से विवाह नहीं करते थे।

वर/वधु ढूँढ़ने की विधि

गुरु जी, लड़कों की टेकनी (टेवा) अपने उन घरों में देते थे, जिनके वे कुल पुरोहित होते थे, और लड़की की टेकनी (टेवे को मिला कर) विवाह की स्वीकृति होती थी। यह प्रथा अभी भी प्रचलित है, परन्तु पलायन के कारण कश्मीरी समाज पूरे संसार में बिखर गया है, तो अब शादी विवाह मासिक पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन द्वारा, और इन्टरनेट से होते हैं। पत्रिकाओं द्वारा, या, विज्ञापन द्वारा विवाह ढूँढने को सामाजिक रूप से बुरा मानते थे। परन्तु अब यह एक मजबूरी हो गई है, और आवश्यकता भी।

संयुक्त परिवार

कश्मीर में संयुक्त परिवार होते थे। यह प्रथा अभी भी हैं। अगर एक शहर में रह रहे हों, तो संयुक्त परिवार में ही रहना पड़ता है। मौलिक बन्धन

बहुत थे। बच्चों को अपने माँ–बाप का नाम पता होते हुए भी, जताने की आज्ञा नहीं होती थी। सबसे बड़े पुरुष और सबसे बड़ी स्त्री को ही बड़ी माँ, बड़े पापा जी का दर्जा दिया जाता था। घर में कपड़ा, खाने पीने का सामान, सब के लिए सांझा आता था। कोई भी व्यक्ति किसी के लिए अगर कुछ भी लाता था तो उस घर के सभी सदस्यों के लिए लाना पड़ता था। पलायन के कारण, कश्मीरी समाज विभिन्न शहरों में जा बसे। अतः संयुक्त परिवार समाप्त हो गये।

संयुक्त परिवार का कलह

यह सब उसी प्रकार होता था जैसे भारतवर्ष के किसी भी प्रान्त में होता है, परन्तु बड़े बूढ़ों का आदेश बहुत मानना पड़ता था। घर का विभाजन भी बड़े ही करते थे। जो व्यक्ति संयुक्त परिवार में न रह सके, उन्हें अलग कर दिया जाता था। अब चूँकि सब छोटे परिवार रह गये हैं अतः कलह भी कम हो गया।

मदिरा और नशीले पदार्थों का सेवन

अंग्रेजों का जमाना होने के बावजूद कश्मीर में शराब नहीं आई। इसका सेवन विवाह शादियों में भी नहीं होता था। धीरे–धीरे आधुनिक व्यवस्था का असर होने लगा, तो युवक लोग बन्द कमरों में मदिरा का सेवन करते थे। परिवार के अन्य सदस्यों से चोरी छिप कर पीते थे। परन्तु आज कल पलायन के बाद मदिरापान एक आम बात हो गई है और विवाह में मदिरा का सेवन अनिवार्य सा हो गया है।

धूम्रपान, हुक्का घरों की एक परम्परा थी। इसे बड़े आदर से बुजुर्गों को पेश किया जाता था। इसे 'जजीर' कहते हैं। बड़े बुजुर्गों के सामने चिलम भरना, पानी बदलना, भाग भाग कर सेवा करना, हमारी मर्यादा थी। यह घर के पुत्र किया करते थे, और अगर आपका सामाजिक स्तर बड़ा ऊँचा है, तो नौकर करता था। हुक्के के साथ, कांगड़ी जो सर्दी में इस्तेमाल होती थी उसे भी त्यार रखा जाता था। हमारे घरों में बड़ी औरतें भी हुक्का पीती थी। जैसे मेरी नानी, मेरी दादी। इस प्रथा को कोई बुरा नहीं समझता था।

नस्वार

घर की कई औरतें नस्वार का प्रयोग करती थीं। मेरी दादी भी नस्वार

इस्तेमाल करती थी। पलायन के बाद हुक्के खत्म हो गये और सिगरेट का भी सेवन इतना नहीं होता। अभी भी धूम्रपान करना, अपने बड़ों के सामने वर्जित है। उसे उद्दण्डता माना जाता है।

नारी का सम्मान

पुरुष प्रधान समाज होने के बावजूद नारी का सम्मान, हिन्दू संस्कृति के अनुसार होता था। किसी भी धार्मिक रीति में स्त्री का होना अनिवार्य था। घर में भी बड़ी माता का हुक्म चलता था और वह ही घर को नियन्त्रित करती थी। वह धीरे–धीरे अगली पीढ़ी को काम–काज सौंप देती थी। पुरुष भी घरेलू कार्यों के लिए पत्नी या, घर की औरतों से सहायता लेते थे। औरतों के प्रधान होने के कारण, हमार समाज में 'दहेज प्रथा', 'घर अचुन', 'पूगं' जैसी सामाजिक कुरीतियाँ समाप्त न हो सकी।

पंचांग

प्राचीन समय से हमारे समाज में पंचांग की बहुत महिमा रही है। इसे जन्त्री भी कहा जाता है। प्रतिवर्ष विक्रमी सम्वत के अनुसार नयी जन्त्री बनती है। इसे धार्मिक पुरोहित बनाते हैं। यह प्रथा पलायन के बाद भी चल रही है। आज कल जम्मू में जन्त्री बनती है। यह वैदिक काल से चल रही प्रथा है। अब धीरे–धीरे इसका चलन कम हो रहा है। अभी भी बड़ों की स्वीकृति और पंचांग देख कर ही कोई भी शुभ कार्य आरम्भ किया जाता है।

साथ वुछुन (मुहुर्त देखना)

प्रत्येक शुभ काम, या विधिवत काम, मुहुर्त्त देख कर ही होता था। वह गुरु जी पंचांग या जन्त्री में देख कर ही बताते थे। जैसे ग्रह प्रवेश, मेखला, शादी विवाह, सातलिवुन, नामकरण, संस्कार, चूड़ाकर्म, मकान का नींव पत्थर रखना, प्रत्येक काम करने से पहले पंचांग में महुर्त्त देखा जाता था।

दिन और वार का आदर सप्ताह में दिन वार में बड़ी आस्था होती थी। मंगलवार को मीट या मदिरा का सेवन, वीरवार को कपड़े धोना आदि वर्जित था।

दिन, वार और दिशायें :– उत्तर दिशा या किसी भी दिशा में प्रस्थान करना होता था तो पंचांग में, दिन–वार देख कर ही किया जाता था। अगर

वह शुभ न हो तो यात्रा से पूर्व पहले दिन यात्री की चप्पल या जूता पड़ोसी के घर रख दी जाती थी, जिसे 'प्रस्थान' कहते थे। अतः जाने वाला यात्री एक दिन पूर्व रात को ही प्रस्थान कर लिया माना जाता था और वह शुभ वार या शुभ दिन था। यह सब प्रथाएँ पलायन के बाद समाप्त हो गई हैं, क्योंकि जीवन की धारा इतनी तेज बहने लगी है, कि 'प्रस्थान' की पुरानी विधि को जीवन में ग्रहण करना कठिन था। अतः यह सब लुप्त हो गया है। कपड़े धोने और सिर धोने की बड़ी मान्यता होती थी। इसे किसी शुभ कार्य वाले दिन जैसे, जन्मदिन, त्योहार के दिन नहीं करते थे। बड़े, बूढ़े इसका विरोध करते थे और बुरा मानते थे।

'पोन्यलदुन' पानी से नहाना। यह एक प्रथा थी, शिवरात्री से पहले वधु अपने मायके जाती थी, वहां से सिर धोकर, नये कपड़े पहन कर, शगुन लेकर ससुराल, वापिस आती थी। यह भी पंचांग में दिन देख कर तय किया जाता था।

यह सब प्रथायें अब समाप्त हो गई हैं।

आवभगत

हमारे परिवारों में अतिथि की आवभगत बहुत होती थी और अभी भी है। अभिनन्दन करने का तरीका गले मिलना होता था। इसमें बड़े–छोटे, स्त्री पुरुष, में कोई अन्तर नहीं था। बड़े जब छोटे को प्यार करते थे तो सिर पर हाथ रखकर माथा चूमते थे। गले मिलने को 'नालमोत' कहते थे। पांव छूने की प्रथा हमारे समाज में नहीं है। अगर छू भी लें तो पुत्री, मां वधु पैरों को हाथ नहीं लगाती। पलायन के बाद भी –यह प्रथा हमारे समाज ने नहीं अपनाई।

मेहमान का खाना–पीना जमीन पर बिठा कर होता था। कालीनों पर चादर बिछा कर आवभगत करना हमारे संस्कारों में था। जहाँ बैठे हों वहीं हाथ धुलाये जाते थे। एक व्यक्ति चिल्मची और साबुन, या चीकनी मिट्टी लेकर चलता था। दूसरा व्यक्ति पानी का जग, और तौलिया और जब सामूहिक भोझ होता था तो सब लोग लाइन में बैठते थे और वहीं बैठे बैठे हाथ धुलाते थे। यह एक सम्मान का कार्य होता था। यह प्रथा अब खत्म हो गई है।

अतिथि को परोसी हुई थाली में खाना खिलाया जाता था। सजी हुई थाली, चावल और सब्जियों को परोसने की विधी, अलग ही थी। फिर उसे मेहमान के आगे रखा जाता था वे उसमें से 'हून्यमेंट' (भोग लगाना) थोड़ा सा चावल बाहर निकाल कर रख देते थे और तब खाना शुरु करते थे। 'हून्यमेंट' व्रत वाले दिन भी डालते हैं। खाना खिलाते समय ग्रहिणी बार–बार आग्रह करती थी, कि और क्या लोगे और अधिक खाना परोस्ते थे, वह खाना ज़ाया हो जाता था। यह हमारी आवभगत की परम्परा थी। 'म्योन मरून छुव', मेरी कसम है और क्या लोगे, यह ठंडा हो गया है, इसे छोड़ दो, गर्म गर्म चावल और लो, आदि शब्दों का प्रयोग होता था। यह मेहमान नवाज़ी का तरीका था। खाना खिलाने के बाद कहवा या नमकीन चाय अवश्य पिलाई जाती थी। खाना खाने के बाद मिष्ठान का हमारे यहीं रिवाज नहीं था। कभी कभी चावल के आटे की फिरनी परोसी जाती थी।

परम्परा के अनुसार जब भी कोई किसी के घर जाता था तो खाली हाथ नहीं जाता था। अतः कान्दुर (नानबाई) से किसी प्रकार की रोटी, कुल्चा, आधि साथ ले जाते थे। गरीब से गरीब लोग, कुछ नहीं हो तो, 'कुल्चवरू' जरुर ले जाते थे जो सस्ता होता था। फल आदि केवल तब ले कर जाते थे, जब किसी बीमार की खबर लेने जाते थे।

बीमार व्यक्ति की खबर, लेने वाले की बहुत खातिरदारी होती थी। उन्हें चाय, पानी परोसा जाता था। 1960 में मैने देखा कि हस्पताल के प्राईवेट कमरों में मरीजों के साथ रहने वाले, 'समावार' जलते ही रखते थे और आने वालों को चाय पिलाते जाते थे। बीमार की सेवा कम और मेहमान की सेवा अधिक होती थी। पलयान से आग्रह खत्म हुआ। टेबल पर या चादर बिछा कर डोंगों में सब्जियाँ रखी जाती हैं। शब्दों से आग्रह होता है। अन्न की अवहेलना कम होती है।

ज़ंगि युन

कोई भी शुभ काम में जब मंत्रोउचारन हो रहे होते थे, तो उस समय एक टोक, या पलेट में सूखे चावल और पैसे रखे होते थे। उससे शुभ काम करने वाले के दायें, कांधे पर तीन बार छुआ जाता था। जिसे गरीबों को दिया जाता था। ज़ंगियुन कहते थे।

घर से बाहर किसी शुभ कार्य, यात्रा पर जाना है, तो घर का कोई भी

बड़ा व्यक्ति सामने से आकर आपके, सफर की यात्रा को पहले काटता था और मन में आर्शीवाद देता था। उसे भी 'ज़ंगियुन' कहते थे। हमारे पापा जी हमेशा हमारे 'जंगि' आते थे।

छींक मारना, 'पौन्द त्राविन', कोई भी शुभ काम करने से पहले अगर कोई छींक मारे तो उसे अशुभ मानते थे और अब भी मानते हैं। छींक मारी जाने के बाद, उस व्यक्ति को वापिस अन्दर बुलाकर, उसे चीनी और इलायची देकर दुबारा भेजा जाता था। यह परम्परा अभी भी है।

आर्शीवाद और उपहार

जन्मदिन पर बड़े लोग, मित्र लोग, प्यार करते थे, आर्शीवाद देते थे और इलाची, बादाम और मिश्री का उपहार देते थे। यह एक हार्दिक अभिनन्दन होता था।

सप्ताह में दिन, वार का महत्त्व

सप्ताह में वार का बहुत महत्त्व होता था और कुछ अब भी है। मंगलवार, वीरवार को मांस मछली न खाना, घर से बाहर शुभ काम पर जाने के लिए वार अवश्य देखी जाती थी और दाह संस्कार के बाद फूल चुनना, अस्थि प्रवाह करना, इन सब प्रथाओं के लिए भी वार का अनुसरण किया जाता है।

उपवास रखना

कश्मीरी समाज में उपवास रखने की प्रथा बहुत थी। यह अब धीरे–धीरे खत्म हो रही है। उपवासों की लिस्ट बहुत लम्बी होती थी, मंगलवार, वीरवार, प्रत्येक महीने की शुक्ल पक्ष की अष्टमी (अठम), ग्यारवीं (काह) (द्वादसी) बारहवां दिन, (मावस) अमावस (पूर्णिम) पूर्णमाशी आदि।

उपवास का क्रम एक सा ही होता था। उपवास के पूर्व रात्रि को सारी रसाई मिट्टी से लीपी जाती थी और सारे बरतन मिट्टी से मांज कर साफ करके रखे जाते थे। पिछले दिन का बचा खाना झूठा माना जाता था। नया खाना, ताजे पानी से, सुच्चा बनता था। दिन में जो व्रत रखता था – वह फलाहार, सिंघाड़े के आटे के पूर, या तले हुए आलू, दहीं और थोड़ी सी लाल मिर्च का सेवन करता था। रसोई में खड़ाव या पुलहोर (घास की चप्पल) का इस्तेमाल

होता था। चमड़े का जूता या चप्पल लेकर नहीं जाते थे।

व्रत का खाना शाम को चार पांच बजे खाते थे। नीचे धरती पर बैठ कर, सामने की जगह को मिट्टी से लीपा जाता था। जिसे 'दजि दिन्य' कहते थे। उस पर दूसरा व्यक्ति रसोई से परोसी हुई थाली लाता था और उनके सामने रखता था। पानी की गड़वी भी सामने रखी होती थी।

व्रत रखने वाला व्यक्ति पहले थोड़े से चावल की लोई बना कर 'हून्यमेट' निकाल कर बाहर रखता था और फिर आचमन लेकर भोजन शुरु करता था। खाना खाते समय उठना मना था। भोजन की समाप्ति के बाद उसी थाली में हाथ धो कर, 'हून्यमेट' को फिर बीच में डाल कर आचमन ली जाती थी, और उपवास का भोजन समाप्त हो जाता था।

क्योंकि आज जीवन इतना तीव्र गति से चल रहा है। अधिकांश औरतें काम काजी हो गई हैं। इनके पास इतना समय ही नहीं है, कि वे इतनी बाध्यता से उपवास करें। इसलिए उपवास काफी कम हो गये हैं और जो करते हैं, वे काफी कोशिश करते हैं, कि अपने रस्म और रिवाज पूर्णतया मना ले, परन्तु इतना हो नहीं पाता।

कपड़े से पकड़ना

कोई भी सूखी चीज जैसे, रोटी, चाय पीते समय दोहरा, फुलका, परोठा, कत्तलम, कुल्चा सीधे हाथ में नहीं पकड़ते थे। हाथों को जूठा माना जाता था। रूमाल या तौलिया से पकड़ कर खाया जाता था। बायें हाथ में छोटे तौलिये पर 'खासू' में चाय या कहवा लेते थे और दायें हाथ में दूसरे तौलिये या रूमाल से खाने की वस्तु को पकड़ते थे और खाते थे।

कम्बल या कपड़ा बिछाना

कोई भी खाने पानी की चीज, नाश्ता, जमीन पर या कालीन पर सीधा नहीं रखते थे उसे जूठा मानते थे। पहले कम्बल या चादर, अब प्लास्टिक की शीट नीचे बिछाते थे, फिर खाने की वस्तु उसके ऊपर रखते थे। नहीं तो मातायें चिल्ला उठती हैं कि जूठा हो गया।

मृत्यु दाह संस्कार और क्रिया

मृत्यु और दाहसंस्कार, ये सब हिन्दू वैदिक रीति रिवाजों के अनुसार किया जाता था। यह घर के संयुक्त परिवार का जेष्ठ पुत्र ही मृतक को अग्नि देता

था। प्रथायें कम अवश्य हुई हैं, परन्तु अभी भी उसी प्रकार से हो रही हैं। गुरु जी के न होने से विधियों में बहुत कठिनाईयां आती हैं।

जिस घर में मृत्यु होती है एक वर्ष तक शोक मनाया जाता था। पूरा वर्ष उस परिवार के लोगों का मन्दिर जाना, त्यौहार मनाना, व्याह शादी में जाना वर्जित होता था। अब शोक की अवधि अपने मतानुसार है। पलायन से और कामकाजी महिलाओं के हो जाने से, शोक की अवधि घटती घटती छः महीने और अब एक महीना रह गई है। मृत्यु के बाद पूरा वर्ष संध्या दीप जलता था, और भोजन बना कर मृतक की आत्मा को खाना खिलाने के लिए चिड़ियों को डाला जाता था। यह सब कुछ घर का सबसे बड़ा पुत्र, या जो उस घर में बड़ा रह रहा होता वही करता था।

मृत्यु की क्रिया, दसवें दिन सारे मित्रगण, परिवार के लोग, शोक मनाने आते थे। नदी किनारे क्रिया होती थी और फिर वे अपने घर को जाते। जो क्रिया करता है वह सिर मुंडवाता है, परन्तु यह अपनी–अपनी श्रद्धा होती थी। ग्यारवां और बारहवां दिन पारिवारिक पूजा–पाठ का दिन होता था। सब लोग अपने परिवार में ही करते थे। गुरु जी अगर विधिपूर्वक करें, तो पूरा पूरा दिन लग जाता था। आज कल ग्यारवां बारहवां दिन हरिद्वार में जाकर भी कर लेते हैं। यह प्रथायें तब तक चलेगी जब तक गुरु जी मिलते रहेंगे।

पूरे बारह दिन, टमाटर, प्याज, लहसुन का उपयोग नहीं होता। सुच्चा और शुद्ध खाना बनता था। साधारण भोजन बनते थे। कोई पकवान नहीं परोसा जाता। अगर दोहते–पोते, वाले पुरुष या स्त्री का देहान्त हो जाये तो उसका 'विमान' निकाला जाता था और बारहवें दिन प्रीति भोज होता।

फिर 'मासवार', मासिक देहान्त का दिन, 'शड़मोस' (छिमाही) 'श्राद्ध' (सालाना) संयुक्त परिवार के साथ होता था। अब भी यह प्रथा प्रचलित है।

जन्म दिन मनाना

जन्म दिन कश्मीर में बड़े ही पारम्परिक ढंग से मनाया जाता है। यह प्रथा अभी भी प्रचलित है। इसे विक्रमी संबत के अनुसार मनाया जाता था। पुत्र का जन्मदिन सारा जीवन और पुत्री का विवाह होने तक मनाया जाता था। विवाह के बाद शादी की पहली वर्षगांठ और उसके उपरान्त, वधु के अपने जन्म दिन की परम्परा खत्म हो जाती है।



व्रत का खाना



खाने की थाली सजाना



तंहरमेच [illegible]



जन्मदिन की पूजा



जंगि युन



नवरई धान [illegible]



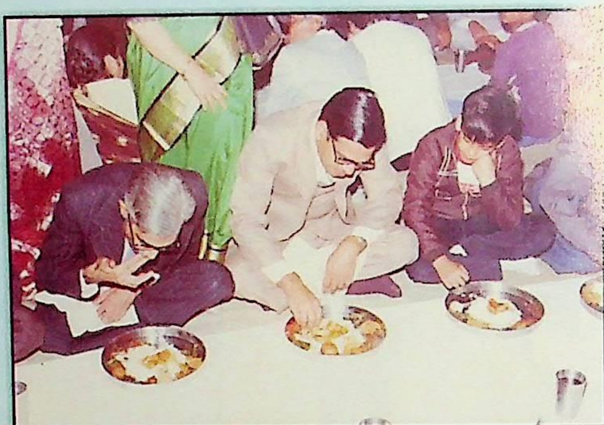
श्राद्ध के दिन चावल मनसना



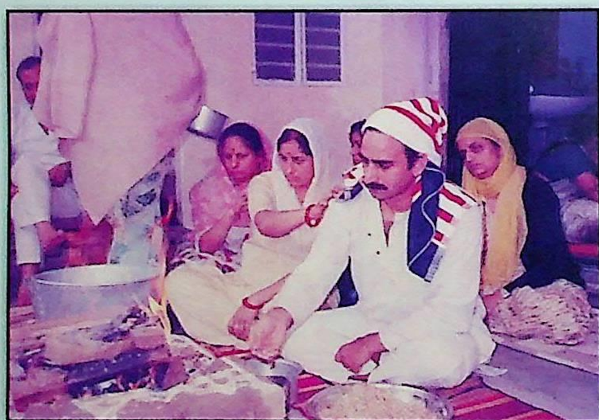
[illegible] पूजा



प्रीतिभोज



प्रीतिभोज



श्राद्ध की पूजा 'थफ करुन'

पति का जन्म दिन सबसे बड़ा त्योहार माना जाता है। पुत्र के जन्म दिन पर भी मां को काफी आदर मिलता है। प्रत्येक जन्मदिन के दिन नये कपड़े पहनते थे। पुत्र और पुत्री को उसके माता पिता उपहार देते थे और वधु को, उसके पति और पुत्र के जन्म दिन पर भेजते थे। उसके अपने माता–पिता, साड़ियाँ, अटहोर, केसर और बादाम से सजी हुई दहीं भेजते थे। कश्मीर में मिठाइयाँ नहीं होती थी। अतः दहीं का ही शगून होता था। दहीं सब रिश्तेदारों में बाँटा जाता था। जन्मदिन पूजा, पीले चावल से होती है। जिसे 'तंहर' कहते थे, उसे एक थाली में रख कर प्रसाद माना जाता है। दूसरी पलेट में 'चोट' जो चिड़िया को डालते थे। तीसरी थाली में जल, हाथ धोने के लिए। धूप, दीप, नैवद्ध रखकर मन्त्रोउच्चारण करके सारे परिवार को मौली और सिन्दूर लगाते थे। यह पूजा पहले गुरु जी करते थे अब जन्त्री से श्लोक पढ़ कर, घर के बड़े, जैसे पिता जी करते थे। पूजा के बाद 'चोट' को चिड़िया को डालते थे और पीले चावल की लोई 'मेच्च' बनाकर दहीं के साथ सबको हथेली पर रखकर बाँटते थे। 'तंहर' का प्रचलन अभी भी है। प्रत्येक परिवार हर पर्व पर 'तंहर' बनाती है। इसे मित्रगणों और पड़ोसियों में बाँटा जाता था, परन्तु पलायन के बाद तहर बाँटना खत्म हो गया। जन्मदिन घर के प्रत्येक पुरुष, पुत्र, अविवाहित पुत्रियों का जन्मदिन और पुत्र और पुत्र वधु की पहली शादी की वर्षगांठ मनाई जाती थी। विवाह के बाद औरतों का जन्म दिन नहीं मनाया जाता। यह प्रथायें अभी भी चल रही हैं।

प्रीति भोज

कश्मीरी संस्कृति में प्रीति भोज बहुत प्रचलित था। प्रत्येक पर्व जैसे – जन्मदिन, शादी ब्याह आदि पर सगे सम्बन्धियों को भोज पर बुलाया जाता। उसमें शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार के भोजन बनते थे। गृहणियां खाना बनाकर और खिलाकर बहुत खुश होती। वह सबको खाना परोसती थी और सबके खाने के बाद ही खुद खाती। सामूहिक भोज में सबको फर्श पर बिछे कालीन के ऊपर पंक्ति में बिठाया जाता था।

हाथ धुलवाना

'अथं छल नावुन' यह एक पारम्परिक प्रथा थी। घरों में नल नहीं होते थे और सर्दी होने की वजह से मेहमानों को कालीन पर बिठाकर, वहीं पर हाथ धुलवाते थे। खाना परोसने से पहले चादर बिछाई जाती थी। एक

व्यक्ति हाथ में चिलमची और चिकनी मिट्टी या साबुन लेकर प्रत्येक व्यक्ति के आगे रखता था। दूसरा आदमी पानी से भरे जग से चिलमची में हाथ धुलवाता था और फिर तौलिया पकड़ा देता था। यह क्रम लाइन से होता था। उसके बाद क्रमानुसार थालियाँ और गिलास रखे जाते थे। फिर एक–एक सब्जी थाली में किनारे पर परोसी जाती थी। सारी सब्जियां परोसने के बाद, एक प्लेट चावल थाली के मध्य में परोसते थे। अन्त में शाकाहारी भोजन हो तो पीला पनीर, मांसाहारी हो तो पीला मीट 'कलिया' परोसे हुए चांवल के ऊपर डाल दिया जाता था। यह सब कुछ क्रमानुसार होता था। आमतौर पर दस, पन्द्रह सब्जियाँ बनाई जाती थीं। शादी ब्याह पर यह गिनती बीस पच्चीस तक हो जाती थी। परोसने का काम दस बारह घर के व्यक्ति लाईन में करते थे, क्योंकि एक व्यक्ति एक समय पर एक ही चीज परोस पाता था। ब्याह शादी में अन्त में डालने वाली सब्जी, पीला पनीर या पीला मीट परोसने खुद बावर्ची आता था। जिसने मैल कुचैले कपड़े पहने होते थे। जाने क्यों हम लोग उसे साफ कपड़े पहना कर पनीर या पीला मीट परोसने पर बाध्य नहीं कर पाते थे। असल में वह अपने बनाये हुए खाने की वाह, वाह लेने आता था। खाना जरूरत से अधिक परोसा जाता था। बार–बार आग्रह करके खिलाया जाता। उसे मेहमानवाज़ी माना जाता था। खाने के बाद एक–एक करके व्यक्ति के सामने से थाली उठाई जाती थी और बैठे–बैठे हाथ धुलवाने का क्रम शुरु हो जाता।

जब एक या दो व्यक्तियों को खाना, खाना होता तो मेहमान को विधिपूर्वक हाथ धुलवाने के बाद, परोसी हुई थाली रखी जाती। यह थाली गृहणी रसोई में खुद भरती थी। इसमें चावल एक तरफ होता था। प्रत्येक सब्ज़ी या मीट क्रमानुसार चावल के ऊपर सजाया जाता। पीला मीट या पीली पनीर कटोरी में रखी जाती थी। बाद में आग्रह करके और लेने के लिए बाध्य किया जाता था। फिर उसी प्रकार थाली उठाकर बैठे–बैठे हाथ धुलाये जाते। हमारे समाज में चम्मच का इस्तेमाल नहीं होता था। हाथ से ही खाना खाते थे और पलायन के बाद भी हाथ से खाने की प्रथा चल रही है। हम कश्मीरी लोगों को चम्मच से खाना खाकर तसल्ली नहीं होती थी।

चरखा कातना

कश्मीरी महिलायें अपने खाली समय को चरखा कातने में व्यतीत करती थीं। प्रत्येक घर में चरखा होता था। ललेश्वरी और हब्बा खातून के वाकों में भी चरखे का वर्णन है। चरखे से हमारे घर में पश्मीना काता जाता था। पश्मीने की रुईं बाज़ार में मिलती थी। उसमें से बूढ़े पके हुए बाल चुने जाते थे। नर्म बालों की एक पूनी बनाई जाती थी। उसे एक टोकरी में मलमल के कपड़े में ढ़क कर रखा जाता था। फिर एक–एक करके उसे चरखे में काता जाता था। चरखे से कातने के बाद उन कते हुए धागों से, बुनने वाले शाल, 'दुस्सा' (दोहरी चादर) बनाते थे। हमारे घरों में 1946 के पहले के काते हुए और फिर बुनवाये हुए शाल और 'दुस्से' थे। चरखे पर, पश्मीना मेरी दादी और नानी काता करती थी। उनके दिये शाल अभी भी हमारे पास धरोहर के रूप में हैं।

सूत

पन के पर्व वाले दिन दिन भी चरखे से सूत काता जाता था। सूत कात कर उसकी माला बनाई जाती थी, जिसे गड़वी में बांधा जाता था। ग्रहणी भी कान की बाली सूत की डलती थी। जिसे 'कन पन' कहते थे।

घास, फूस, जड़ी बूटी, भूर्ज, सूखे फलों का उपयोग

घास, 'द्रमुन'

कश्मीर में घास का भी उपयोग होता था इसे 'द्रमुन' कहते थे। यह पन की पूजा में इस्तेमाल होता था। पन एक ऐसा पर्व था, जिसमें मीठे रोठ बनते थे और उनकी पूजा की जाती थी। पन के साथ एक लोक कथा जुड़ी थी, एक राजा था जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। उसने पन देवता का अनादर किया, और वह भिखारी बन गया। फिर उसकी पत्नी ने बहुत कष्ट झेले और पन की पूजा की कामना की। तबेले में से उसने गोबर लिया। उसे धोया, उसमें से गेहूँ के दाने निकले। उन्हें सुखाया और आटा पीस कर, उसमें शक्कर डाल कर रोट बनायें। उनकी पूजा की। उसके पास फूल आदि भी नहीं थे। उसने तकली से रुईं का सूत काता और उसे माला के

रूप में उपयोग किया। उसे गड़वी के गले में बांधा। उसमें पानी रखा और उसे देवता का स्वरुप दिया। उसके पास अरपन करने के लिए फूल भी नहीं थे, तो हरी घास को धो कर, चावल के दाने डाल कर उससे पूजा की और पन देवता को अर्पित किया। आटे के रोठ सोने के बन गये, फिर उनका, लुटा हुआ राज्य वापिस मिल गया। अतः हमारे समाज में घास की बहुत महिमा मानी जाती थी। इसे पूजा का आधार माना जाता था।

'दर्भ तुज' - कुशा

कुशा एक और प्रकार की कुष्ठ घास है जो खेतों में पाई जाती है। इसे बहुत पवित्र माना जाता था। प्रत्येक, हवन, पूजा आदि में इसका प्रयोग होता था। कुशा की अंगूठी बनाई जाती थी जिसे 'पविथर' कहते थे। उसे दाईं हाथ की अँगूठी वाली उंगली में डाला जाता था और प्रत्येक पूजा में उसे पहन कर ही पूजा की जाती थी। 'दर्भ तुज, कुशा अभी भी प्रत्येक पूजा में इस्तेमाल की जाती हैं।

हवन पर पूजा

हवन पर चारों दिशाओं की पूजा, कुशा को डाल कर होती है।

अनकन पूजा

कुशा को बिछा कर उसका आसन बनाया जाता था। उस पर चावल के आटे की रोटी के टुकड़े डालते थे, तो अनकन पूजा की जाती थी। निष्कर्ष यह है कि कुशा के बिना कोइ भी पूजा सम्पूर्ण नहीं हो सकती थी।

दर्भ तुजि

कुशा को कान के उपर दाई तरफ रखा जाता था। कहते हैं, कि उससे जनाना रोग ठीक हो जाते थे। इसीलिए इसे दंभतुज कहते हैं।

व्यनुॅ

व्युनॅ एक ऐसे पत्ते हैं, जो कश्मीर के अतिरिक्त और कहीं पर नहीं देखे जाते। इनका उपयोग केवल खीर भवानी के मन्दिर में होता था। यह सुगन्ध छोड़ने वाले पत्ते, पूजा अर्चना में काम आते थे। व्यनुं केवल खीरभवानी के नाग में अर्पण किये जाते थे। खीर भवानी के बाहर व्यनुं

बेचने वाला होता था। हम उससे व्यनुँ, रत्नदीप, 'कन्ध' खरीदते थे और अन्दर जाकर मां के प्रांगण में पूजा करके – नाग में अर्पित करते थे। यह हमारी अध यात्मिक प्रवृत्ति थी। आज इसी बात को मन तरसता है।

इसबन्ध

यह किसी पौधे के फूलों के बीज हैं। पौधों का नाम मैने ढूँढना चाहा, परन्तु नहीं मिला। इसबन्ध हमारे समाज में शगून के समय, सुलगती कांगड़ी में डाला जाता है। प्रत्येक गृहणी हाथ में इसबन्द लेकर एक दूसरे के माथे को छू कर कहती है 'पोशतं धवु' अर्थात् बधाई हो। फिर उसे कांगड़ी की सुलगती आग में डाला जाता था। वह बीज तिड़ तिड़ कर के फूटता और जल जाता। जलने से वातावरण में एक सुगन्ध पूर्ण धुआं उठता। सारा वातावरण आनन्दित हो उठता और ऐसा प्रतीत होता कि देव लोक से देवतागण सब को बधाई दे रहे हैं।

वगुव (चटाई)

डल झील की वीड़स की टहनियों को बहुत इस्तेमाल होता था, उसका 'बगुव' बनता था, 'वगुव' एक चटाई है। यह कश्मीर में बहुत काम आती थी। हमारे घर में वगुव प्रत्येक कमरे में, 'वोट' में, रसोई में बिछाया जाता था। यह सर्दियों में गर्म और गर्मियों में सर्द रहता था। इसका प्रयोग कश्मीर में अभी भी होता है।

पुलहोर (घास की चप्पल)

पुलहोर भी घास की बनती थी। यह चप्पल नुमा चीज़ होती थी। इसे मर्द और औरतें दोनो पहनते थे। इसे पवित्र माना जाता था। इसका उपयोग रसोई में होता था। सर्दी होने की वजह से नंगे पांव चलना सम्भव नहीं था। अतः पुलहोर को पहना जाता था और खाना बनाते समय उसका प्रयोग होता था।

जब दुल्हन के फेरे होते थे, तो एक जोड़ा पुलहोर का रखा जाता था। इसे बड़े प्यार से बनवाया जाता था। उस पर गोटा, किनारी आदि लगाते थे, विवाह की वेदी पर, दुल्हन उसे पहने रखती थी। यह पवित्र माना जाता था और विवाह की विधी पूरी की जाती थी। सामूहिक भोज के समय बावर्ची पुलहोर पहन कर रसोई में खाना बनाता था। चमड़े की चप्पलें पहन रसोई में जाना वर्जित था।

जड़ी बूटियों का प्रयोग

जच्चा का पारम्परिक स्नान के दिन जड़ी बूटियों का इस्तेमाल होता था। उसे 'श्रान मसाला' नहाने का मसाला कहते थे। इस 'श्रान मसाले' को बड़े से पतीले में उबाल उबाल कर काढ़ा बनाया जाता था। फिर ठंडा करते थे। यह जच्चा के बच्चा पैदा होने के दसवें दिन, वार और मूहूर्त्त देख कर किया जाता था। साफ पानी अलग से बड़े–बड़े पतीलों में उबालने के लिये रख देते थे। जब वह एक घंटे के लगभग उबलता रहता था, तो उसे अपने आप ठंडा होने के लिए रख देते थे। अतः साफ पतीले में जड़ी बूटी वाले पानी को तैयार किया जाता था। रात के समय जच्चा को नहलाते थे। उसमें ठंडा पानी नहीं मिलाते थे। उसे 'फोटयपोन्य' कहते थे। इस में विज्ञान का योगदान है। वहां नदी का पानी होता था। वह बहुत गंदा होता था। जच्चा को नहलाने के लिए पानी को उबाल, उबाल कर कीटाणु रहित किया जाता था। उससे जच्चा को नहलाते थे, क्योंकि गन्दे पानी से बीमारी का डर होता था। पहले एक बार साफ पानी से जो उबला और ठंडा हो गया होता था, उसके बाद जड़ी बूटी वाले काढे से नहलाया जाता था। उस काढ़े में कीटाणुओं को समाप्त करने की शक्ति होती थी। यह एक औषधि के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। जच्चा के पेट पर औषधी वाला पानी मल मल कर नहलाया जाता था। ऐसा माना जाता था कि इससे गर्भाशय रोग मुक्त हो जायेगा।

जड़ी बूटियों के पानी से नहाने के बाद फिर ठंडा किये हुए उबले पानी से नहलाया जाता था। इस सारी विधि को 'श्रान करुन' कहते थे। यह पारम्परिक नहाना होता था। बच्चे को भी उबले पानी से नहलाते थे, परन्तु वहां जड़ी बूटियों का सेवन नहीं होता था।

ऑर बनाना

धान के पौधों की टहनियों को भिगो कर रख दिया जाता था। उसके नर्म होने पर उसके गोलाकार रूप देते थे। उससे एक गोल चक्कर जैसी परत बन जाती थी। जो विभिन्न साईज की होती थी। इसे 'ऑर' कहते थे। इसका प्रयोग शिवरात्री के दिन होता था। 'ऑर' को प्रत्येक बर्तन यानि 'बटुक' के पात्रों के नीचे रखा जाता था। प्रत्येक पूजा में दिये का प्रयोग होता था, तो एक कोने में दिये को भी एक 'ऑर' बना कर, उस पर

रखा जाता था। 'ऑर' का प्रयोग पारम्परिक था और इसे शुभ माना जाता था।

भूर्ज

यह एक पेड़ की छाल होती थी। जिस पेड़ का नाम मूर्च था। यह ऊंचे पेड़ पहाड़ों पर उगते थे। पेड़ों की छाल को बुर्ज़ कहते थे। इसका प्रयोग घरों की छत बनाने में बहुत होता था। बुर्ज़ पश – यानि भूर्ज की छत। बुर्ज़ को छत पर फैला देते थे – उसके ऊपर चिकनी मिट्टी डाल देते थे। वह वहीं जम जाती थी और सर्दियों में गर्म और गर्मियों में ठण्डी रहती थी, परन्तु इसमें प्रति वर्ष दुबारा मिट्टी डालनी पड़ती थी।

'भूर्ज़मेटंय कड़िन'

अर्थात् नामकरन पूजा। जच्चा के दसवें दिन उसे पारम्परिक ढंग से नहलाया जाता था, तो उसे अगले दिन नये कपड़े पहना, नया अटहोर लगा, सजाया जाता। उसके बच्चे को भी नये कपड़े पहना, उसकी गोदी में रखा जाता था। तो एक विधि मनाई जाती थी – उसे 'भूर्ज मेटयं कडिन' कहते थे। अतः नामकरन करते थे। यह घर की गृहणियां करती थी। सारे परिवार का सामूहिक भोज्ञ होता। जच्चा के सामने एक थाली में चावल, हरी सब्जी, जैसे 'हन्द' (एक प्रकार की हरी पालक जैसी सब्ज़ी जो केवल कश्मीर में पाई जाती थी) और तली हुई मछली और अन्य पदार्थ रखते थे। उसकी पूजा की जाती थी। फिर एक पानी की गडवी को, जच्चा के गोद में बच्चे को लिये, उसके सामने रखते थे और घर की बड़ी महिला हाथ में भूर्ज़ को जलाती थी। उसको जलाने के बाद, जलते–जलते बुर्ज बच्चे और मां के चारो ओर घुमाया जाता था। अतः उसकी नजर उतारी जाती थी, और फिर अपने सिर के चारो ओर से घुमा कर पानी में डाल शं करके भुझा दिया जाता था। इस प्रकार उस ग्रोत्र के व्यक्ति, बच्चे की और मां की नजर उतारते थे ओर बच्चे का नामकरण करते थे। इसको 'भूर्ज़ मेटयं–कड़िन' कहते थे। यह प्रथा अभी भी प्रचलित है।

सूखे फूलों का प्रयोग

कश्मीर की घाटी चार पांच महीने बर्फ से ढकी होने के कारण आवाजाही, जीविका के साधनों में बाधा आती थी। जीवन क्रम सर्दी में बदल जाता था।

जीवन में प्रयोग आने वाले खाद्य पदार्थों को सुखाया जाता था और फिर उसे सर्दियों तक सम्भाल कर रख कर, सर्दियों में उपयोग किया जाता था।

जहां सब सब्जियाँ सुखाई जाती थी, वहां गेंदे के फूलों की माला बनाकर फूल सुखाये जाते थे। गेंदा कश्मीर में बहुत प्रयोग होता था। हमारा समाज, धार्मिक और आध्यात्मिक समाज था। हम लोग पूजा अचर्ना में बहुत विश्वास रखते थे। प्रभु की आराधना में लीन रहते थे। सुबह–सुबह परबत की परिक्रमा करके, घर में 'ठांकुर कुठ' में 'ठांकुर जी' शिवजी की पूजा करते थे। उन में फूलों की आवश्यकता पड़ती थी। अतः गेंदे के फूल जो सुखा कर रखे होते थे उन्हें माला में से थोड़े से निकाल कर, फूलों की पत्तियां तोड़ कर 'पोश पुच़नावुन' उन्हें प्रभु को अपर्ण किया जाता। क्योंकि अब गेंदे का फूल पूरा वर्ष मिलता रहता है या कोई और फूल मिल जाते हैं, तो पूजा में सूखे फूलों का प्रयोग कम होता है।

'कान्दुर' नानबाई

कश्मीर में घर में रोटी बनाने का चलन नहीं था। गेहूँ की उपज न होने के कारण घर में आटा कम ही होता था। केवल चावल ही बनता था। अतः नाश्ते में, शाम के समय चाय के साथ, मेहमान नवाजी में नानबाई, यानि कान्दुर की रोटी लाई जाती थी।

नानवाई एक अलग ही वर्ग होता था, जो प्रतिदिन सुबह–सुबह अपना तन्दूर जलाता था, और सारा दिन उसमें भिन्न–भिन्न प्रकार की रोटियां बनाते। समय के अनुसार जैसे सुबह, दोपहर, शाम को, भिन्न–भिन्न नाम की कश्मीरी रोटी बनती थी, और इस्तेमाल की जाती थी। यह रोटियाँ इस प्रकार की होती थीं, जैसे लवासा, रोटी, घी वाली रोटी, कत्तलम, बागिरखानी, कुलचवार, तेलवोर, टखटची रोठ, शुमाल आदि।

सुबह–सुबह कहवे के साथ 'लवासा' या 'रोटी' परोसी जाती थी। यह बहुत सस्ती होती थी। शाम को 'शीर चाय' नमकीन चाय के साथ नानबाई की रोटी तेलवोर बागिरखानी, खाया जाता था। बागिरखानी रिश्तेदारों के घर जाते समय तोहफे के रूप में ले जाया जाता था।

रोठ बहुत ही सुन्दर, बड़ी, अण्डाकार, मोटी, रोटी की तरह होती थी। उसे काजू बादाम, खजूर, खसखस और वर्क से सजाते थे। कश्मीर में मिठाई न बनाने की कारण प्रत्येक उत्सव पर रोठ का प्रयोग होता था।

खासकर दुल्हन अपने मायके से 21 या 31 रोठ लाती थी। उसे एक सन्दूक में रख कर भेजा जाता था। उसे 'रोठ खबर' कहते थे। यह रोठ मिठाई के बदले होते थे। रोठ खबर में, दहीं, रोठ, बादाम, मिश्री, शगून के पैसे भेजे जाते थे। अतः यह सब एक प्रथा थी। इन रोठों को प्रत्येक घर, जैसे मित्रगण, रिश्तेदार, पड़ोसियों को बांटा जाता था। यह प्रथा अभी तक प्रचलित है।

नानबाई की सब रोटियां प्रत्येक कश्मीरी परिवार को पसन्द है और इन्हें खा कर खुश होते हैं। पलायन के बाद प्रत्येक बड़े–बड़े शहरों में नानवाई की दुकानें खुल गई हैं और लोग बड़े शौक से खरीदते हैं।

चाय

कहवा

कश्मीर में कई प्रकार की चाय की प्रयोग होता है। कहवा, कश्मीर की प्राथमिक चाय है। ये केवल कश्मीर में प्रयोग होती है। इसे हरी चाय कॉशर चाय, मोगिल चाय भी कहते हैं।

यह पहले समावार में बनती थी। जिसकी वजह से सारा समय गर्म गर्म कहवा मिलता था। परन्तु धीरे–धीरे समावार का इस्तेमाल बन्द हो गया। अतः चाय पतीले में बनने लगी। यह चाय पानी में पत्ती उबाल कर, उसमें छोटी इलायची, दालचीनी, पिसा हुआ बादाम डालते हैं। इस में दूध नहीं डलता इसे दिन में किसी भी समय पिया जाता था। सबसे अधिक कहवा नाश्ते में कश्मीरी नानबाई की रोटी के साथ दिया जाता था। कहवा अजकल पूरे देश भर में प्रचलित है और बड़े–बड़े प्रीतिभोज, या पांच सितारा होटलों भी वितरण किया जाता है। पंडित लोग कहवे को खासू, जो एक कांसे का प्याला होता था, उसमें पीते थे, परन्तु समय परिवर्तन के साथ कप में पीना शुरु कर दिया गया है।

केसर 'कौंग' चाय

केसर की चाय, बहुत ही लजीज़ चाय होती थी। यह अपने प्रिय मित्रों को या खास मेहमान की आवभगत के लिए बनाई जाती थी। कोग चाय को एक आदर की भावना से परोसा जाता था। केसर के दो तीन तिनके पानी में डाल कर उबाले जाते थे। उबलने के बाद जब रंग निकलता था, तो

उसमें चीनी डाल कप प्लेट में परोसा जाता था। इस चाय का स्वाद और महक, सब से भिन्न है।

शीर चाय - नमकीन, प्याज़ी रंग की चाय

यह चाय नमकीन चाय होती थी। यह अलग प्रकार की चाय की पत्ती होती थी, परन्तु मोगिल चाय की पत्तियों से भी बनाई जा सकती थी। चाय के थोड़े से पत्ते लेकर पानी में उबलने के लिए रखते थे। इसमें हल्का सा मीठासोड़ा भी डलता था। जब यह उबल–उबल कर काढ़ा जैसा बने जाये, तो इसमें दूध, पानी और नमक डाला जाता था। यह प्याज़ी रंग की चाय बन जाती थी। उसे फिर कप पलेट में डाल कर, मलाई से सजाया जाता था। शीर चाय आम तौर पर शाम को या दोपहर के खाने के बाद पी जाती थी।

नूनॅ चाय - नमक वाली चाय

यह कहवे जैसी होती है। इस में चीनी के बदले नमक डाला जाता था। यह बजुर्ग लोग पीना पसन्द करते थे।

दोदंचाय - दूध वाली चाय

इस प्रकार की चाय, कहवे में, दूध डाला जाता था। वह सफेद हो जाती थी। इसे हमारे बुजुर्ग महिलायें भी पिया करती थी। 'दोद चाय', दूध वाली चाय पिलाना आदर का प्रतीक होता था।

लिपटन चाय

यह चाय जो पूरे भारतवर्ष में प्रचलित है – उसे लिपटन चाय कहते हैं। चाय की पत्ती के नाम असंख्य हो गये हैं। जैसे टाटा, ब्रुकबाण्ड परन्तु हमारे परिवारों में इस चाय को लिपटन चाय ही कहा जाता था। यह परिवर्तन 1950.52 के करीब आया। धीरे–धीरे यह मेहमानों को परोसी जाती थी फिर समय के साथ हमारे समाज में पूर्णतया सम्मिलित हो गई थी।

ज्योति

'ज्योर्तिध्यान' का हमारी संस्कृति में बहुत महत्त्व है। मेरे पिता जी मुझे ज्योर्तिध्यान की क्रिया समझाते थे। वे कहते थे कि ज्योति जलाओ, उसे एक टुक निहारते रहो, अपने मानसिक तनाव को भूल कर लीन हो जाओ। उस समय

मुझे यह सब समझ नहीं आता था, परन्तु आज जब मैं यह लिख रही हूँ कि हमारी हिन्दू सभ्यता विशेष रूप से कश्मीरी पंडितों की पूजा की विधियों में, ज्योति की कितनी मान्यता है, तो ज्योर्तिध्यान समझ में आता है।

हमारे समाज में ज्योति का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक पूजा, प्रत्येक मन्दिर एवं अन्य पूजा स्थलों में इसका प्रयोग होता है। ज्योति दो प्रकार से जलाई जाती है जैसे दीया 'चौंग'। यह पारम्परिक विधि है। घर में एक दीया अवश्य होता था। प्रतिदिन उस में तेल डाल कर, बाती लगा कर, संध्या के समय जलाया जाता था। उसे संध्यादीप 'संध्या चौंग' कहते थे। मेरी दादी प्रतिदिन संध्या दीप जलाती थी।

प्रत्येक पूजा जैसे, शिवरत्रि, हवन, मृत्यु के बाद की ग्यारवें, बारहवें दिन, की क्रिया, छमाही 'शडमोस' सालाना 'श्राद' इन सब पारम्परिक पूजा रीतियों में दीपक को जला कर पूजा स्थल के कोने में 'अंर' घास की रिंग के उपर रखकर अखंड ज्योति जलाते थे। हिन्दु धर्म में भी प्रत्येक पूजा या मन्दिर में दीये की अखंडज्योति जलती रहती है।

दीपदान

हिन्दु परम्परा में दीपक (ज्योति) की आस्था बहुत होती है। किसी भी घर के व्यक्ति की मृत्यु होती थी, तो उसकी क्रिया में दीपदान अवश्य होती है। इसे 'तीलदियुन' कहते हैं। यह क्रिया, ग्यारवें दिन, बारहवें दिन, छमाही या सलाना, वैधिक क्रिया की जाती थी। वर्ष में एक बार 'तीलदियुन' यानि दीपदान करते थे। कहते हैं कि मृतक की आत्मा को, वे दीप स्वर्ग जाने का रास्ता दिखाते है। इस पूजा में बहुत सारे दीये जलाये जाते थे और पूजा की जाती थी।

संध्यादीप, किसी भी घर के व्यक्ति के निधन होने के बाद, पूरा वर्ष शाम को जलाया जाता था, यह क्रिया 'संध्या दीप' मृतक के निवास स्थान पर होती थी।

घी का दीपक - 'रतनदीप'

घी का दीपक, यह पीतल के दीये में या पक्की मिट्टी के छोटी से प्लेटनुमा बर्तन में, और बाती लगा कर जलाया जाता था। रतन दीप, हिन्दू धर्म की पराकाष्ठा है। हिन्दु धर्म में नदियों में जैसे, हरिद्वार और बनारस जैसे तीर्थ

स्थल पर गंगा में दीप प्रवाह किये जाते हैं। प्रत्येक आरती में दीप प्रजवलित होता है। अतः ज्योति की बहुत महिमा है।

हमारा 'रतनदीप' प्रत्येक पूजा, प्रत्येक मन्दिर और हर आरती में, जलता था। खीर भवानी, जेष्ठा माता के दरबार, में इसकी ज्यादा महिमा थी। यह रत्नदीप हमें बाहर बैठे फूल, दीप, कन्द बेचने वालों से मिलते थे, या हलवाई से मिलते थे। जो हमें पूजा के बाद 'लुच्ची' और चाय भी पिलाता था। रत्नदीप जला कर इन स्थानों में पूजा अचर्ना की जाती थी। प्रत्येक मासिक अष्टमी को और, जेष्ठ अष्टमी को सामूहिक आरती का आनन्द ही अलग होता था। शाम को सामूहिक आरती के समय, हाथों में दिये लेकर, ज्योति को बिखेरते हुए, सैंकडों लोग, खीरभवानी के आंगन में गौरी का सामूहिक गुणगान, गाने के साथ और मां की आरती उतारते थे। दृश्य आलौकिक और आध्यात्मिक होता था। व्यक्ति माता की आराधना में विलीन हो जाता था। कहते हैं कि अगर इस आरती में सम्मिलित होना भाग्य में लिखा है, तो यह प्रभु की असीम कृपा मानी जाती है।

रतन चाँगिज

यह चावल के आटे के बनाये दिये होते थे, जिसमें घी डाल कर बाती लगाई जाती थी, और इन्हें रतनदीप की तरह जलाया जाता था। रतन चाँगिज की प्रथा शादी, व्याह में दूल्हे दुल्हन की आरती उतारने की थी। यह परम्परा सदियों से चली आ रही है। जब दुल्हा बारात लेकर आता है तो उसे 'व्यूग' अलपना पर खड़ा करते, और रतनचंगिज से उसकी आरती उतारते। जब वह दुल्हन को लेकर अपने घर आते तो उन दोनों को फिर 'व्यूग' पर खड़ा करके, आरती उतारी जाती। इस प्रकार ज्योति हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग थी।

मिट्टी के बर्तन

वर्षों पूर्व कश्मीर में मिट्टी के पके हुए बर्तनों का इस्तेमाल बहुत किया जाता था। यह प्रथा आदिकाल से चली आ रही थी। मेरी नज़र में भी काफी सालों तक मिट्टी के बर्तनों के इस्तेमाल का प्रचलन रहा। फिर धीरे–धीरे मिट्टी के बर्तनों का इस्तेमाल कम हो गया, और आधुनिकीकरण के कारण, मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग बिल्कुल समाप्त हो गया।



रतनदीप



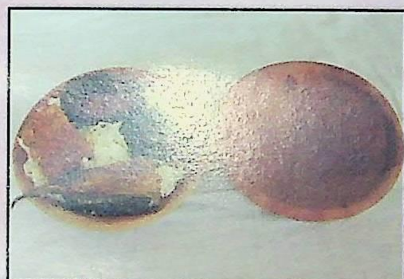
चौंग ''दीया''



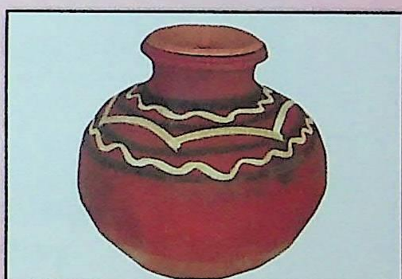
[illegible] चुल



लेज ''हाँडी''



बतं टोक



घड़ा 'नोट'



ढोलक ''तुम्बख नारी''



चूल्हा - औकचोर



दुकचोर - चूल्हा



नानबाई की रोटियां
कतलम कुल्चा



नानबाई की रोटियां
रोठ, लवासा, रोटी

घड़ा

घरों में मिट्टी के बड़े–बड़े घड़े हुआ करते थे, जिसमें बाहर नलों से पानी भरकर रसोई में रखते थे। रसोई में इसका स्टैण्ड होता था। जिसे 'गरवन्ज्य' कहते थे। यह 'वोट' और 'कंनी' की रसोई में होता था। रसोई का पीने वाला पानी गृहणी स्वयं लाती थी। धीरे–धीरे उन्होंने पानी भरने वाले भिश्ती रख लिये। वह 'मशक' (चमड़े का थैला) में पानी भर कर लाता था, और घड़े भर जाता था।

मट एवं मठ

यह मिट्टी के बड़े–बड़े सुराहीदार घड़े होते थे जिन्हें रसोई के स्टोर 'बानंकुठ' में रखते थे। इनमें वर्ष भर का राशन, जैसे – धान, चावल आदि सम्भालकर रखा जाता था।

देग

यह खुले मुँह वाले लम्बे पक्की मिट्टी के मटके होते थे। शादी व्याह, मेखला, जैसे बड़े–बड़े प्रीतिभोजों में इनमें खाना बनाया जाता था। देगों का इस्तेमाल एक लम्बे लकड़ी जलाने वाले चूल्हे पर किया जाता था। इसे 'वुर' कहते थे। एक 'वुर' पर आठ, नौ देगें एक साथ खाना पकाने में इस्तेमाल होती थी। हर देग में अलग–अलग प्रकार का मीट, पनीर, सब्जी बनाई जाती थी। इन देगों में वाबर्ची खाना बनाता था। खाना बनाने के बाद इनको इस्तेमाल करके फेंक दिया जाता था।

छोटा घड़ा (नो'ट)

नो'ट इसे बटुख भरने के काम में लाया जाता था। इस छोटे मटके में सूखे अखरोट डालकर पानी से भर दिया जाता था और फिर शिवरात्रि के पूजा स्थल पर कोने में सजाया जाता था। इसके ऊपर फूलों की माला डाली जाती थी। उस पर सिन्दूर से ऊँ लिखकर, चाँदी के वरक से सजाया जाता था। इसे 'वटुक' कहा जाता था। यह प्रथा अभी भी प्रचलित हैं। 'वटुक' को शिवजी का रूप माना जाता था।

कलश

कलश छोटे से मटके में सूखे अखरोट और पानी भरकर इसे पूजा स्थल के

कोने में रखा जाता है। इसको फूलों से सजाकर, लाल कपड़े से ढका जाता है। इसे कलश कहा जाता है। इसकी 'कलश' पूजा की जाती है। बाकी सारी पूजा खत्म हो जाने के बाद इस कलश के अखरोट से पानी के छींटे सब भक्त जनों पर डाले जाते हैं जिसे 'कलश लव' कहते हैं और अखरोट का प्रसाद सबको बाँटा जाता है। 'कलश लव' और अखरोट के प्रसाद को प्रभु की अनुकम्पा मानी जाती है। यह 'कलश पूजा' प्रत्येक प्रकार की पूजा में, जैसे शिवरात्रि, 'मेखला', 'महायज्ञ', 'चूड़ा कर्म', 'जातकर्म' पूजा, हवन, देहान्त के ग्यारवें और बारहवें दिन की क्रिया, छमाही क्रिया 'शडमोश' वार्षिक क्रिया 'श्राद्ध' में की जाती हैं।

टोक

अर्थात् पक्की मिट्टी की प्लेट। अतीत काल में इसका प्रयोग बहुत होता था। धीरे-धीरे इसका इस्तेमाल कम हो गया। अब टोक के बदले सारा काम स्टील या शीशे की पलेटों से लिया जाता है।

"बतं टोक" खाने से भरा टोक। 1955 में मेरी दादी किसी शादी वाले घर से, मेरे लिए बतं टोक लायी थी। यह बतं टोक प्रत्येक सामूहिक भोज, जैसे मेखला, शादी व्याह, यज्ञ, मेहंदी रात को पहले से ही भर कर रखते थे। टोक में चावल और उसके ऊपर सब्जियाँ सजायी जाती थी। उसे फिर दूसरे टोक से ढ़क दिया जाता था। अतः इसको 'बतं टोक' कहते थे। यह 'बतं टोक' मेहमानों के घर में बैठे रिश्तेदारों के लिए दिया जाता था और इसे बहुत शौक से खाया जाता था।

ज़ंगियुन

प्रत्येक शुभ काम में एक 'टोक' में चावल, नमक और पैसे रखकर यजमान के दायें कन्धे को किसी भी व्यक्ति से तीन बार छुआ जाता था। इसको 'जंगिआना' कहते थे। उस चावल पर रखे पैसे किसी को दान में दिये जाते थे और चावल की तंहर बनाई जाती थी।

टोक भरुन

दो 'टाकू', पक्की मिट्टी के प्लेट में चावल और नमक, पैसे रख कर अल्पना "व्यूग" पर रखा जाता था। ब्यूग दूल्हे के ससुराल जाने पर, दूल्हा दुल्हन के मायके की बिदाई पर, उसके ससुराल पहुँचने पर उन्हें ब्यूग पर खड़ा

किया जाता था। यह सूर्य की पूजा मानी जाती थी। चावल से भरा टाकू फिर दान दिया जाता था।

दिवतं तबचि

प्रत्येक धार्मिक पूजा में जैसे यज्ञ, मेखला, दिवगोन, कहाने थर पर परम्परागत रूप से पूजा होती थी। उसमें भू खीर और मूंग की दाल की टिक्की 'मोग वोरं' बनाती थी। खीर को टाकुओं में डाला जाता था और उसके ऊपर, मूंग की दाल की टिक्की को सजाया जाता था। इनकी गुरु जी पूजा करते थे। इन्हें 'दिवते तबचि' कहते हैं। अतः देवताओं का भोग। इन 'दिवतं टबाचि' की पूजा के बाद, पूजा के कलश में से भीगे अखरोट, जो प्रसाद होता था, उस पर रखकर एक–एक 'दिवतं तबचि' प्रत्येक घर के मुख्य अतिथि को दिये जाते थे। यह 'दिवतं तबचि' प्रत्येक परिवार के नामबद्ध होकर रखी जाती थी।

मसाले रखना

'वुर' पर बावर्ची मसाले मांगता था, जो सामूहिक भोज पर खाना बनाने के काम आते थे। घर की महिला उसे अपने स्टोर में से सारे मसाले 'टाकू' में भरकर देती थी। अब यह चलन खत्म हो गया है। अब मसाले डिब्बों में डालकर दिये जाते हैं।

खिर टोकं

खीर से भरा टोक कश्मीर में जब भी खीर बनती थी, उसे गरम गरम, 'टाकूओं' में डाल दिया जाता था। खीर उसमे ठंडी होकर जम जाती थी। खीर को बादाम की गिरी, और केसर से सजाया जाता था। खीर आमतौर पर बड़े धार्मिक उत्सव पर प्रसाद के रूप में बाँटी जाती थी। हर एक को, एक–एक 'खिर टोक' मिलता था, और इसे बड़े चाव से खाया जाता था।

फिरनी

चावल के आटे की खीर को फिरनी कहते हैं। इसे भी बनाकर 'टाकुओं' में डाला जाता था और उसे भी बादाम गिरी, केसर के साथ सजाकर परोसा जाता है। यह शादियों में और सामूहिक भोझ में परोसा जाता था।

चावल परोसना

सामूहिक भोज में गरम चावल थाली में परोसा जाता था तो उसके लिए 'टोक' का इस्तेमाल होता था। गरम गरम चावल किसी पहरात, या साफ 'टब' या 'डुल' में डालते थे जिसे दो व्यक्ति उठाते थे और एक आदमी 'टोक' से उबला चावल भर भरकर मेहमान की थाली में परोसता जाता था।

रतनदीप

आजकल 'टोक' का इस्तेमाल समाप्त हो गया है। अब केवल पक्की मिट्टी की एक ही वस्तु रह गई है। वह है 'रतनदीप' रतनदीप देसी घी के दिये को कहते हैं। यह एक छोटा सा टोक होता है। इसमें देसी घी गरम करके, बीच में बाती लगाकर ठंडा होने के लिये रख दिया जाता है। 'रतनदीप' को प्रत्येक पूजा स्थल जैसे खीर भवानी, जेष्ठा देवी, हारी परबत पर जलाये जाते थे। रतनदीप मे प्रभु की आस्था मानी जाती है।

हांडी

कश्मीर में हांडी 'ल्ये'ज' का प्रयोग बहुता होता था। इसमें दालें या राजमां आदि बनते थे। हांडी एक पक्की मिट्टी का बर्तन होता था। जिसका आकार पतीले से मिलता जुलता था। यह हल्की आंच पर धीरे–धीरे खाना बनाने के काम आता था।

तुम्बखनारी

यह भी पक्की मिट्टी की बनी होती थी, सुराही जैसी लम्बी नली वाली ढोलक होती थी। इसके आगे चमड़ा लगा होता था। पीछे से मुँह खुला होता था। तुम्बखनारी को विवाह पर गाना बजाने में, छकरी में बजाया जाता था। एक समय में जितने लोग गोल दायरे में बैठते थे उतनी तुम्बखनारियां अपने हाथों में लेकर बजाते थे।

चिकनी मिट्टी का प्रयोग

कश्मीर में चिकनी मिट्टी का प्रयोग बहुत होता था। सन् 1950 से 1955 तक मिट्टी का सेवन शुभ माना जाता था। इसे साबुन के बदले प्रयोग किया

जाता था। पाखाना जाने के बाद, बुजुर्ग लोग चिकनी मिट्टी से ही हाथ मांजते थे। इसे शुद्ध माना जाता था। यह क्रम काफी देर तक चलता रहा। फिर धीरे–धीरे साबुन का इस्तेमाल होना शुरू हुआ तो मिट्टी का प्रयोग समाप्त हो गया।

व्रत से एक दिन पहले सारे रसोई के बर्तन मिट्टी से मांजे जाते थे। रसोई को मिट्टी से लीपा जाता था। उसके बाद उस रसोई में सुच्चा खाना बनता था। यह प्रथा अभी भी चल रही है।

''क्रोण्ड करुन'

मिट्टी के बर्तनों को बाहर से लीपना। उस जमाने में खाना बनाने के लिए चूल्हा जलाते थे। उससे सारे वर्तन काले हो जाते थे। अतः उन सब वर्तनों को बाहर से चिकनी मिट्टी से लीपा जाता था। खाना बनाने के बाद, जो बर्तन काला हो जाता था, उसे भी बाहर से दुबारा लीपा जाता था ताकि यह साफ हो जाये और खाना परोसते समय बुरा न लगे। उसे 'क्रोण्ड करुन' कहते थे। क्रोण्ड, 'दीचा', 'लेज' (हांडी) 'पतीला' आदि जैसे बर्तनों को किया जाता था। समय के परिवर्तन के साथ चूल्हे का प्रयोग समाप्त हो गया और 'क्रोण्ड करुंन' की प्रथा भी समाप्त हो गयी।

छत बनाना

चिकनी मिट्टी की छत बनती थी। उसे भुर्ज पश कहते थे। पेड़ों की छाल को, छत पर बिछाया जाता था। उस पर चिकनी मिट्टी डाली जाती थी। वह प्रति वर्ष दुबारा डालनी पड़ती थी। क्योंकि, बर्फ पड़ने से अथवा वर्षा पड़ जाने से, मिट्टी बह जाती थी। यह सर्दियों में गर्म और गर्मियों में कमरों को ठंडा रखती थी और सस्ती होती थी।

बोर लद्धुन

मकान की दीवारें कच्ची मिट्टी से लीपी जाती थी। चिकनी मिट्टी में सूखी धान के छिलके डालकर भिगोकर रख दिया जाता था। धान के छिलके को कंसर कहते हैं। जब कंसरं फूल जाती थी तो मिट्टी में पकड़ आ जाती थी। उससे मिट्टी घर की कच्ची दिवारों का पलस्तर किया जाता था। यह मजदूर लोग करते थे। रसोई में अगर मिट्टी का पलस्तर उतर जाता था, तो उसे घर की औरतें खुद करती थी। चिकनी मिट्टी कमरों का तापमान सामान्य रखती है।

दीवारें लीपना

कश्मीर में सर्दी अधिक होने के कारण सारा मकान कच्ची मिट्टी का बना होता था उसकी दीवारें चिकनी मिट्टी से लीपनी पड़ती थी। इस समय मकान बनाने के यही साधन उपलब्ध थे। चिकनी मिट्टी का घोल बनाकर उस से 'वोट' की (आम बैठने का कमरा) दीवारों को महीने में एक बार और सारे मकान को शिवरात्रि से पहले लीपा जाता था। बाहर का बरामदा और गली 'वुज़ ओर ब्रांध' प्रतिदिन सुबह–सुबह गृहणियाँ चिकनी मिट्टी से लीपती थी। इसे प्रभु में आस्था मानी जाती थी और घर की सुख समृद्धि के लिए कामना की जाती थी।

बीमारियाँ

घाटी की प्राचीन संस्कृति में, स्वदेशी चिकित्सा पद्धति का बहुत महत्व था। कश्मीर घाटी में यूनानी और आयुर्वेदिक दवाईयों का प्रयोग कम होता था। हकीम और वैद्यों से थोड़ी बहुत दवाइयाँ ली जाती थी। उन दिनों कम्पाऊण्डर ही डॉक्टर होते थे। ऐलोपैथी के आ जाने से, अंग्रेजी दवाईयों का सेवन शुरु हो गया। फिर भी शीरा, गुलकन्द आदि का सेवन बहुत होता था, जो पंसारी बेचता था उसे 'बुहुर' कहते थे। 1947 से पहले चिकित्सा सेवाओं का अभाव होने के कारण, स्त्रियों और नवजात शिशुओं की मृत्युदर बहुत थी। आम आदमी का जीवन काल भी छोटा था। अतः हर प्रकार की बीमारियाँ होती थीं। अब स्वास्थ्य सेवायें बढ़ गई हैं अतः बीमारियों का चलन भी कम हो गया है। मृत्युदर में भी फर्क पड़ गया।

कांगडी कैंसर

यह कैन्सर केवल कश्मीर घाटी में होता था। कांगडी एक आग सेकने का मिट्टी का बर्तन है। जिसके ऊपर बैंत का खोल चढ़ा होता है। उसे फिरन में भी रखा जाता था। सीधी आँच टाँगों में लगने से, वर्षों बाद टांगों में कैन्सर हो जाता था। इसलिए उसे कांगड़ी कैन्सर कहते थे। आधुनिकीकरण के कारण जैसे बुखारी, रुम हीटर आदि के प्रयोग से कांगड़ी का इस्तेमाल कम हो गया। अतः कांगड़ी कैंन्सर भी कम हो गया। पलायन के बाद हमारे कश्मीरी पंडितों में कांगड़ी का इस्तेमाल बिल्कुल खत्म हो गया है। फिर भी हर घर में एक कांगड़ी पाई जाती थी।

पैपटिक अलसर, गाल ब्लैडर में पथरी

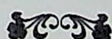
पैपटिक अलसर कश्मीर के लोगों में अधिक होता था। क्योंकि हमारे समाज में कश्मीरी मिर्च का सेवन और हर चीज तलकर बनाने के कारण पैपटिक अलसर, और मैदे में तेज़ाब बनने की बिमारियाँ बहुत होती थी। तेल बहुत मात्रा में इस्तेमाल होता था। इसलिए गाल ब्लैडर पित्ते में पथरी भी बहुत होती थी। पलायन के बाद पारम्परिक खाना कम बनने लगा है। अतः ये बीमारियाँ भी कम होने लगी हैं।

करंसी

कश्मीर एक आजाद प्रान्त था। वहाँ पर महाराजा राज करते थे, परन्तु सन् 1947 से पहले कश्मीर प्रान्त में ब्रिटिश इण्डियां में जो करंसी प्रचलित थी वही चलती थी। जैसे घेला, आधा पैसा, पैसा, टका, आना, चवन्नी दो आना, अठन्नी फिर रुपया होता था। एक रुपये में सोलह आने होते थे। पैसे का मूल्य बहुत होता था। मेरे पिता जी बताते थे, कि वे एक आने में चाय, चीनी, दूध और रोटी लाते थे। जिससे पूरे परिवार का नाश्ता होता था।

आजादी के बाद कश्मीर भारत का अभिन्न अंग बना। यहाँ वही करंसी चली, जो सारे भारतवर्ष में चल रही है। करंसी बदल गई एक रुपये के सौ पैसे बनाये गये जिसमें पहले नया पैसा आया, फिर यह पैसे में बदल गया। जैसे एक पैसा, पांच पैसे, दस पैसे, पचास पैसे और एक रुपया। नोट भी आ गये एक रुपया, दो रुपया, पाँच रुपया, दस रुपया, सौ रूपया, पाँच सौ और हजार रुपये के नोट आये। यह सब कश्मीर घाटी में भी चल रहे हैं।

समय के साथ–साथ सिक्कों पर कोई न कोई नाम छापा जाता है। वह सिक्का महान् पुरुषों की याद में बनाया जाता है। यह सिक्के दो रुपये, पाँच रुपये, दस रुपये के होते हैं जैसे :– छत्रपति शिवाजी, महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरु, सुभाष चन्द्र बोस, बल्लभ भाई पटेल, इन्दिरा गाँधी, राजीव गाँधी, एशियाड, सैलुलर जेल, पानी बचाओ, राष्ट्रीय एकता आदि भारतवर्ष में चलते हैं। यह सिक्के कश्मीर प्रान्त में भी चलाये जाते थे। मुझे सिक्के इकटठे् करने का शौक है। अतः मुझे जो सिक्का जहाँ से भी मिलता, वहाँ से इकट्ठा किया और उन्हें यहां चित्र में दर्शाया है।





हमारी धरोहर बर्तन



हमारी बहुत सी कश्मीरी धरोहर हैं जो लुप्त हो गई है। यह पारम्परिक बरतन, मैने अपने घरों, अपने मित्रों के घरों से, एकत्रित किये। यह हमारी वरासत हुआ करती थी, और अब यह लुप्त हो चुकी है! विस्थापन से पहले 'बानखोत़', ऐसे बरतनों से भरा रहता था। वह बानखोत़ वही रह गया, रह गया बचा–खुचा सामान, जो लोग अपने साथ ला पाये, उन वस्तुओं को मैने, इन चित्रों में संजोने की चेष्टा की है।





डुल



सनिवारि



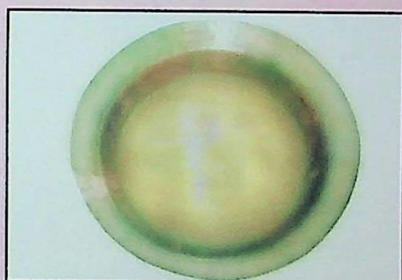
[illegible]



थाली गड़वी और गिलास



गागर



कांसी की थाली



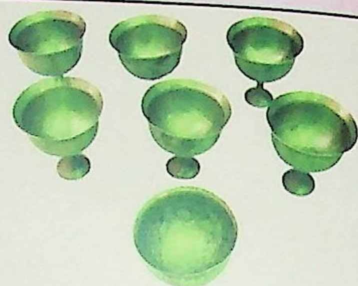
गागर



दीचा



समावार



खासू एवं केंज़ खोस



चाँदी का कप प्लेट



सज़ावटी समावार



बांगिर भोहगुन



टूर बड़ा और छोटा

स्वास्तिक, सूर्य मंडल, व्यूग और क्रूल

कश्मीर के विद्वानों ने स्वास्तिक को सूर्य का प्रतीक माना है। आचार्य अभिनव–गुप्त ने अपने ग्रन्थ तंत्रलोक (2/3) 246) में नादब्रह्म और शब्दब्रह्म की उत्पति का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने नाद सृष्टि के छः रूप बतलाए है। अ, आ, इ, ई, उ तथा ऊ यह मुख्य छः स्वर हैं और यही छः स्वर सूर्य की छः रश्मियाँ (2131/184-85) नाद सृष्टि की छः पंक्तियाँ या भुजाएँ हैं। दो से मिलकर धन का चिह्न बनता है, उसमें फिर चार भुजाएँ जुड़ती है। भारतीय सिक्कों पर पहले चक्र बनाया जाता था आगे चलकर चक्र के स्थान पर स्वास्तिक को अंकित किया जाने लगा। स्वास्तिक चार दिशाओं में व्याप्त विशाल मण्डल के चर्तुभुजी रूप का प्रतीक है। सूर्य का प्रतीक होने के कारण यह गति का प्रतीक भी है।

कश्मीर के सौर सम्प्रदाय के अनुयायी ललाट पर लाल चन्दन से सूर्य की आकृति बनाते थे और लाल पुष्पों की माला धारण करते थे। वे ब्रह्मरूप में उदयोनमुख सूर्य की ईश्वर रूप में मध्य सूर्य की तथा विष्णुरूप में अस्तोमुख सूर्य की पूजा करते थे। कश्मीर में मुसलमानों के आने पर जब तिलक लगाने पर भी पाबन्दी लगा दी गई, तो इस प्रकार की साधना सूर्य नमस्कार तक ही सीमित रही, जिसमें सूर्य की ओर देखकर जल और फूल अर्पित किये जाते थे। स्वास्तिक सर्वाधिक लोकप्रिय प्रतीक बन गया। यह हमारी लोक संकृति का एक अंग बन गया। जन्म से ही स्वास्तिका का सम्बन्ध हमारे जीवन से जुड़ गया, जो आज भी ज्यों का त्यों है। पुत्र जन्म, विवाह अथवा कोई भी मंगलमय उत्सव हो उसका प्रारम्भ, स्वास्तिक पूजन से ही किया जाता है। विवाह के समय जब कश्मीरी हिन्दू घरों में घर का मुख्य द्वार भिन्न रंगों से बेलबूटे बनाकर सजातें हैं, तो द्वार के ऊपर ओंकार के साथ स्वास्तिका बनाने का भी प्रचलन है। इस को 'क्रूल रंगरून या क्रूल खारून' की संज्ञा दी जाती है। नये घर के बनाने पर उसके चारों ओर

तथा मुख्य द्वार पर चूने से स्वास्तिक बनाये जाते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वास्तिक एक मौलिक प्रतीक के रूप में कश्मीरी हिन्दुओं के जीवन में सुख, आशा तथ कल्याण का अभिप्रेत देता है।

हारमण्डुल

आषाढ़ सप्तमी के दिन मुख्य द्वार पर हर घर के बरामदे तथा आँगन में सूर्य की आकृति बनाई जाती थी जिसमें रंगों के स्थान पर सुर्खी, चूना, शहतूत के पत्तों को सुखाकर बनाया गया, हरे रंग में प्रयोग लाया जाता था, इसे सूर्य मण्डल कहते थे। इसके बीच में छोटे कलश नुमा बर्तन में पानी रखा जाता था, और उसमें खिले और अधिखिले अनार के पौधे की टहनी रखी जाती थी। इस दिन प्रातः काल इस सूर्य मण्डल को देखकर ही भोजन किया जाता था। कश्मीरी हिन्दू अभी भी सूर्य को विश्वात्मा मानकर उसके प्रति प्रतीकात्मक विश्वास रखते हैं और पूजते है।

यज्ञोपवीत

कश्मीरी पंड़ितों के बालक का यज्ञोपवीत संस्कार एक महत्व पूर्ण संस्कार है। यह संस्कार विद्यारम्भ के साथ सम्बन्धित है। पाँच छः वर्ष का होने पर बालक को गुरू, तख्ती पर अक्षर ज्ञान देता' और उसके कानों में गुरूमंन्त्र का उच्चारण करता है। उसके साथ यज्ञोपवीत पहनाकर गायत्री मन्त्र का उच्चारण कराया जाता है। गायत्री मन्त्र को आजीवन याद रखने की दीक्षा दी जाती है, इसलिए जीवन भर यज्ञोपवीत पहने रखने का आग्रह किया जाता है, और सिर के सारे बाल उतारे जाते है। बालक को भृग चरम पहना कर पारम्परिक वेष भूषा में, गेरू वस्त्र पहना, भिक्षु बनाया जाता है, और सारे रिश्तेदार उसे भिक्षा देते है। इस समय पूजा स्थल पर सूर्यमण्डल बनाने का प्रावधान है। यह सूर्य पूजा का ही प्रतीक है। लोग गीताँ या कश्मीरी लोक 'बनवुन' में सूर्य पूजा या सूर्य मण्डल बनाने की प्रक्रिया का इस प्रकार उल्लेख मिलता है। यह गायन यज्ञोपवीत संस्कार के समय होता है।

मंडलचि जायि व्यस्तार लिवयो,
अवतार कृष्ण जुवोन
मंडल लेखयों समि समि जाये,
पूजये श्री भगवानने।



कश्मीरी दुल्हा



कश्मीरी दुल्हन



कश्मीरी दुल्हन 'तरंगा' बाँधना



दुल्हे को इलायची की माला डालते हुए



क्रूल - दरवाजा सजा हुआ



दुल्हा व्यूग पर



पोश पूजा

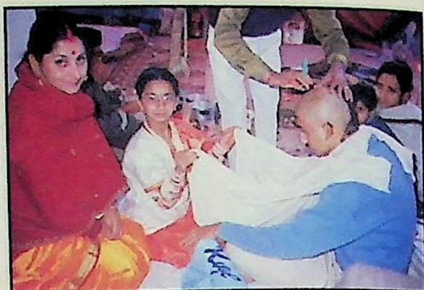


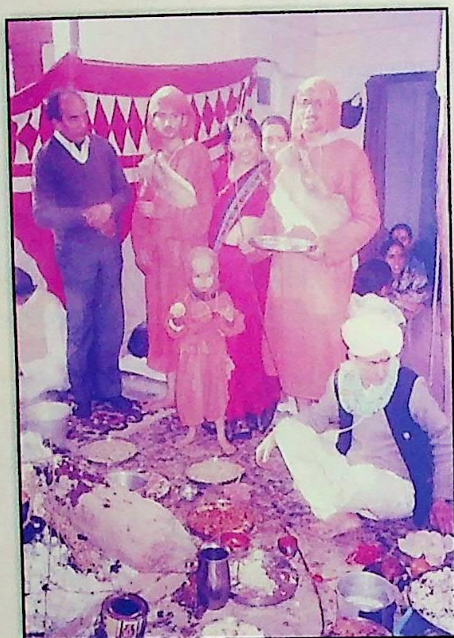
डेजहोर एवं अटहोर



मननमाल बदलना


मेखला, नरिवन पहनना


मेखला बाल काटना


मेखला, अबीद डालना


मेखला, जनेऊ पहनाना


कश्मीरी विवाह
पलायन के कारण संस्कृति में बदलाव

मंडल लेख्यों नाना रंगे
जगे ओयो परमीश्वर
मंडलिम चाँनिस शुराह गरय,
माँज़ मरेद भरयो।
मंडिलिस चाँनिस लछबोज़ गरय,
कुम स्यन्दरे बरयों।
मंडल लेखयो सिरिया प्रकाशे,
नकाश आयो लेखने।
बरि ल्यूखूयं हरिचन्दर राजने।
वैकुण्ठ अन्दर मण्डल छय खसान,
ब्रह्मा लोग वुछने।

(अर्थात मण्डल के स्थान पर विस्तार से लीपन कर नाना रंगों से कुम कुम, सिन्दूर, मेंहदी तथा चूने से 16 अराषों वाला सूर्याकार राजा हरिचंद्र के हाथों से बन गया। कृष्ण जी (बालक) के यज्ञोववीत पर आने के लिए सूर्य को वैकुण्ठ भेजकर 'सूर्य के रथ' पर बिठाकर ब्रह्मजी को यज्ञोपवीत का दृश्य देखने के लिए बुलाया जाता है।

यज्ञोपवीत संस्कार में सूर्य को आचार्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। शिक्षण पद्धति को संध्योपासना में गायत्री मन्त्र ही विद्यारम्भ का केन्द्र बिन्दु है। कश्मीरी लोकनृत्य में 'वीग्य वनवुन' भी प्रमुख है अर्थात भौगोलिक अवसर पर नारियाँ सूर्य की गोलाकार आकृति की रंगोली (व्यूग) बनाती है।

और उसमें नाचती हुई गाती हैं:–

हुम वोथुम त वेगि खोतुम
तोतुँ वो थुम यार बल़।
हुम वोथुम तुँ वेगि खोतुम,
राजुँ वोथुम यारबल।

(अर्थात यज्ञ करने के पश्चात, बालक रंगोली पर चढ़ा, और तत्पश्चात् नदी के किनारे पर संध्या वंदना के लिए गया।)



लड़ीशाह, बच्चनगमा, रौफ, वनवुन, बांड

लड़ीशाह

इन दिनों एक व्यक्ति हाथ में एक चिमटा और एक लाठी से घुंघरु लगे होते थे, उसे लेकर आता हुआ, गली गली फिरता था। वह उस समय की व्यथा, सामाजिक कुरीतियों से अवगत कराता था और लोग उसे पैसे देते थे। गोल घेरे में भीड़ इकट्ठी होती और वह गाता :–

छोन्य छोन्य छोन्य, छोन्य लड़ीशाह आव

और किसी भी भाव को अपनी लय में गाता।

सुनो, सुनो, भाइयो, बहनों
खालिबो, मालिको सुनो
नन्द राम ओस जमीदार,
हूरिठ ध्यार त लूरस नॅं लार
बागॅज़ बॅरिस, च़जिस नु गागेल
सन्तोष व्यालि बुवि आनन्द फल।

यह किस्सा इस छोटे जमीनदार का, जो टैक्स चुकाता भी रहा परन्तु जीवन भर कर्जदार रहा। किराये के मकान में रह कर सन्तोष रखकर उम्मीद करता रहा कि संतोष में ही आनन्द है।

इस प्रकार लड़ीशाह जीवन के प्रत्येक रंग को अपने बोल से हमारे समाज को दर्शाता था।

बच्च नगमा और छकरी

बच्च नगमा और छकरी, एक और रुप था। हमारे गीत संगीत का! महंदी रात को छकरी की धुन बजती थी। महंदी की रस्म अदा करने के बाद, इसबन्ध के सुधंदित वातावरण में छकरी शुरु होती थी। गोल दायरे में बैठे

छकरी बजाने वाली टोली, अपने पास एक एक वाद्य रखते थे जैसे 'तुम्बखनारियां' हरमोनियम, संतूर, गागर और चाबी का गुच्छा, जिसके बजाने से उसमें ध्वनि पैदा होती थी। 'कैंज़ी खासू' आपस में टकराते और सुर बनाते, कांसी की थाली भी कोई हाथों में चाबी के गुच्छे से छनकाता और एक गायक उस 'छकरी' की धुन में रस घोलता। बाकी लोग उसके आलाप का साथ देते। वे 'लीला दें' गाते (प्रभु के भक्ति गीत)

'माज्य मेयन कासतंम गम,
ब लागय भाव कोसुम'

मां मेरी मेरे गम, कष्टों का निवारण करो, मैं तुम्हें भावपूर्ण पुष्प लगाती हूँ।

छकरी में लोक गीत, हास्य गीत 'देदी ने जब टेलीविजन लाया'। अतः यह छकरी पूरे कमरे में बैठे श्रोतागण को मंत्र मुग्ध कर देती और सब लोग साथ ही गाने लगते और झूमते। सुर में सुर मिला साथ हाथों से तालियां बजाते।

छकरी सारी रात चलती। कई लोग ऊंघने लग जाते। कई हाथों में मेहंदी लगा रजाईयों में लुढ़के पड़े होते, परन्तु अधिकतर लोग इसका आनन्द उठाते।

छकरी की थाप के चलते एक पुरुष औरत के कपड़े पहने, गोल दायरे में बैठे छकरी वालों के मध्य में नाचता उसे 'बच्च नगम' कहते थे। वह पावों में घुंघरु बांधता, ठुमके लगाता, हास्य बोल बोलता, घूंघट निकालता। यह नाच अपने में अलग ही मिसाल होती थी। उन दिनों 'गोपीनाथ' 'गुप्पबच्च' बड़ा चर्चित व्यक्ति था। वह सारी रात ऐसी लहर लगाता कि सोया व्यक्ति भी जाग जाता और गुप्प बच्च औरों को भी नचाता था। सब में जोश आता। उसकी छकरी और नाच की आवाज़ें उस मकान से दूर दूर घरों तक सुनाई देती थी। उन दिनों में कोई साऊंड सिस्टम नहीं होता था, परन्तु 'ग्रुप सोंग' सामूहिक स्वरों की आवाज़ ही इतनी गूंजती थी कि मुहल्ले के दूसरे छोर पर सुनाई दे जाती थी।

उन दिनों मैं छोटी थी। 'गुप्प बच्च' और उसके गाइकी, मज़ाकों को और छकरी की धुन को नहीं समझती थी, परन्तु वे सुन्दर दृश्य अभी भी मनसपटल पर हैं।

छकरी के समय सब को 'कहवा', 'नूनचाय', 'शीर चाय' का जलपान कराया जाता था। यह रात भी चलता।

मेरी मां बहुत हास्यप्रिय महिला थी। जब घर में शादी होती तो वह अपना नाच गाना शुरु कर देती। वह छकरी की थाप पर 'लीला' गाती थी ! फिर गुप्पबच्च की तरह नाचती थी। वह सिर पर साफा बांध, हाथ में डंडा ले, पुरुष का रूप धारण करती थी और सबको हंसाती थी। सब लोग उठ–उठ कर इसबन्ध से उसके माथे को छू कर कांगडी में डालते। जलती कांगडी में 'इस बन्ध' तिड़–तिड़ कर जलता और सुगन्ध फैलाता और मेरी मां की नज़र उतारते। मेरी मम्मी का नाच गाना, सुन मेरी नानी भावविभोर हो जाती। मैं छोटी थी। सब कुछ समझना कठिन था, परन्तु अन्तिम उल्लास प्रिय क्षण उसके लिए तब था जब मेरे बच्चों की मेखला की मेहन्दी रात थी, वह उसकी तीलायें गाना, हास्य व्यंग करना, बच्चनगम करना–सब याद है। छोटी सी, ठिगनी सी मोटी सी मेरी मां सबका दिल जीत लेती थी।

छकरी रात भर चलती। कोई थकता न था और आने को होती थी और ज़ोर–ज़ोर से छकरी बजा मंगल गान गाये जाते। मानो सूर्य देवता के आगमन पर गीतों की पुष्पांजिली भेंट की जा रही हो।

"गाशनूल आव, प्रकाश नोन द्रावं
भगतान सोन यति धिय नमस्कार"

सूर्यदेवता आया है, चारों ओर प्रकाश फैला है। भगवान के साथ सबको नमस्कार।

"घट चजि त, गाश आव
आवचोवापरि – भगवान चानि ओस नमस्कार।"
घटा चली गई है, रौशनी आ गई है।
हे भगवान् तुम्हारे आगमन को नमस्कार"
"गछि वे सिये इलाल घुम दूरे
में छि भूरे - लल्वुन नाद।"

मेरी सहेली मेरा प्रियतम दूर है,
मैं उसके विरह में हूँ। मुझे प्रियतम का बुलावा आया है।

यहां 'प्रियतम' का समय के अनुसार अर्थ निकलता था। यह भगवान, पति, प्रेमी, किसी की भी कल्पना की जा सकती थी।

भोर हो जाने के बाद छकरी की थाप, गुप्प बच्च का नगमा समाप्त हो जाता और सब लोग अपने–अपने घरों को चले जाते और आने वाली प्रथाओं की तैयारियों करते।

रौफ

यह मुस्लिम संगीत एवं नाच होता था। मुस्लिम महिलायें हमारे विवाहों में आतीं तो आंगन में रौफ करती। महिलायें दो लाईनें बनाती – आमने–सामने। एक दूसरे की कमर में हाथ डाल कर, कदम कभी आगे कभी पीछे और कभी दायें और कभी बायें, यह सब सामूहिक गान के साथ होता। सबके पांव के कदम बराबर, एक सारे और एक ही समय के आधार पर उठते और संगीत के सुरों में, अपनी ही लय में वह मंगल गान गाती। रौफ गाते समय किसी भी वाद्य का इस्तेमाल नहीं होता था।

कुछ बोल इस प्रकार हैं:–

"जून खचुम ओबरस छाये लो लो़"
लो लो, लों लों।
आछबल बीठसम, गछ डब पेठ।
छलि छलि दोति म्यानि हाया।
दोब बाय आये, दोब बाय आये।।

चान्द बादलों के पीछे से निकल आया है। दरिया पर बैठकर अपनी धोतियां धो रहे हैं। धोबन आई है, धोबन आई है।

मलि मलि सोबुन, दोब बाय आय।
दोब बाय आये।
बेज ब्रारि लेज सारी छलि।
दोब बाय आय दो बाय आय।।

साबुन मल मल कर धो रही है। धोबन आई है, धोबन आई है! सारी हांडियां धो धोकर साफ कर दी हैं। धोबन आई है धोबन आई है!

माये करिज़ि धोति म्यानि।
दोब बाय आय दोब बाय आय।।

मेरी धोती को माया करना। धोबन आई है धोबन आई हैं! इन शब्दों की भाषा यूं तो सीधी साधी लगती है, परन्तु रौफ के गायन में इसका अर्थ हर भिन्न लगता है।

एक और पंक्ति है जो हमारे घर की महिलायें गाती थी:–

"टूरनं मारान ग्राये लोलो, ग्राये लो लो।

कि सब खुशी से इतना झूम रहे हैं कि कानों के बुन्दे भी हिल रहे हैं। रौफ हमारे जीवन के यथार्थ पल थे, सुखद एवं उल्लास प्रिय क्षण। वे भूले

नहीं भुलाये जाते। कभी–कभी पलायन के बाद पंडित महिलायें विवाह में, मंगल गान गाते हुए, रौफ के दो चार लाईनें गा कर अपने अतीत को याद करती हैं।

वनवुन

लोक गीत, मंगल गान, विवाह, मेखला, नामकरण में, सभी शुभ कार्यों में मंगल गान गाया जाता था।

हें ज़े...............................यह ध्वनी अभी भी कानों में गूंजती है। घर परिवार, रिश्तेदारों की महिलायें सब एक कमरे में एकत्रित होती थी। चाहे वह 'कुंठ', कांनी, या वोटं हो। कमरे के बाहर चप्पल निकाल, फिरन, तरंगा और पूंच पहन कर गलीचे पर बैठ जाती थी। दीवार के साथ–साथ दीवार के साथ बैठना आदर का प्रतीक होता था। पीछे गांव तकिया रखा जाता। 'तलय पैठकुन बेह' वोन्य धुय लाल फोलिस शाम तान्य वनवुन'। जरा उपर होकर ठीक से बैठो, तुमने अपने जिगर के टुकड़े के (विवाह में या मेखल में) सारा दिन वनवुन गाना है। एक महिला वनवुन गाने में माहिर होती थी उसे 'वनवुन वाज्य' कहते थे। वह वनवुन के बोल समय अनुसार बोलती थी और फिर गाती थी। इसकी लय भिन्न होती थी। फिर शेष महिलायें उसका साथ देती थी। सब मिलकर गाते थे... ...हैं जै... ...।

वनवुन में, दुल्हा, दुल्हन माता पिता, मासी भूआ, प्रत्येक के नाम से मंगलगान गाया जाता था। यह दिन भर चलता। जब उन्हें पता लगता 'कन्य श्राण' हो रही है यानि दुल्हे को नहलाया जा रहा है, तो उसका मंगल गान गाती। फेरों के समय फेरों का गीत गाती। अतः उन सब प्रथाओं के शब्द भिन्न–भिन्न होते थे।

वनवुन वाली महिलाओं की बहुत आवभगत होती थी। समय के साथ–साथ उन्हें शक्करपारे, 'कहवा', 'नून चाय', 'शीर चाय' टखटची, बगिर खानी, कत्लम, सब कुछ परोसा जाता था। गर्मियों की ऋतु में शादी, हो या मेखला नीम्बू पानी, दहीं की लस्सी का बहुत प्रयोग होता था।

विदाई का वनवुन बड़ा मार्मिक होता था। सब लोग उन शब्दों को सुन आंसू बहाते पुत्री को दुल्हन के रूप में खिड़की में से विदा किया जाता था। वोटं की खिड़की से मामा गोद में बिठा 'ब्यूग' पर खड़ी करता था। कहते

थे कि खिड़की से विदाई इसलिए की जाती थी ताकि बेटी अपने घर दरवाजे से वापिस आ सके उसके लिए घर के दरवाजे सदा खुले हैं।

व्यूग पर खड़े घूंघट निकाले दुल्हा दुल्हन को नाबद खिलाया जाता। मां या दादी मनन माल बदलती, शंख नाद होता–तो विदाई होती। सारे परिवार के सदस्य आस–पास समूह बना खड़े रहते, मूक और भीगी आंखों से उन्हें निहारते। वोटं की खिड़की से 'वनवुन' गाने वाली बाहर झांकती और ऊँचे ऊँचे स्वर में गाती।

वुनिस्ताम ऑसहम, हूयरि बोनुह, रच्छी मजि हेंज़ि अच्छी धरह गछ़खय"

यानि अब तक तो तू बिटिया, इस घर की मालकिन थी, अब यह घर छोड़कर जा रही हो–री मां की लाडली।

अतः वनवुन हमारे जीवन का अभिन्न अंग था। अब केसिटों तक सीमित हो गया है। शादी में वनवुन की केसट लगाते हैं, तो आजकल के बच्चे ठप से टेप बन्द कर देते हैं और पाश्चात्य गीत की ड्रम की थाप के साथ चलने संगीग लगाते हैं।

लुप्त हो चुकी है और बची खुखी वनवुन की गाथा भी कुछ वर्षों तक धूमिल पड़ जायेंगी।

बांड

यह एक प्रकार का नाच होता था। गांव में, शहर में, गलियों में, शादी के बाद दुल्हन के आने पर 'बांड' मजमा लगता था। उसने बेढंगे कपड़े पहने होते थे। उसे 'सिद्वगूर' भी कहते थे। शेष भारतवर्ष में उन्हें 'खुसरा' कहा जाता है। वह बीच बाज़ार में, आंगन में मजमा लगाता था। वह नाचता, गाता, लोगों की भीड़ इकट्ठी करता था। उसकी हरकतें हास्यवर्धक होती थी, परन्तु उसके हाव–भाव घरों में प्रचलित नहीं थे। तभी मातायें कहती थी, "केहय भाडपोथुर छुख करान।" यानि बांड की तरह हरकतें कर रहे हो जो जचती नहीं हैं। अतः बांड पोथुर केवल, सड़क पर नाच करने वाले को ही जचती थी।





सामाजिक वर्गीकरण



कश्मीरी समाज में कोई जात पात नहीं थी, परन्तु फिर भी सामाजिक वर्गीकरण हुआ। सभी लोग शास्वत ब्राह्मण थे। उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में बांटा गया था। मुस्लिम राजाओं के अत्याचार के कारण इस्लाम को मानने के बाद केवल ग्यारह घर बचे थे अतः उनसे ही गोत्र बने। मुस्लिम राजा सिकन्दर और उसके पुत्र के राज्य के समय लोगों को या तो इस्लाम मानना पड़ा, या कुछ लोग राज्य से बाहर सुरक्षित स्थानों पर चले गये।

कश्मीरी पंडित जो बाहर पलायन कर गये थे, बड़शाह राजा के समय वापिस घाटी में गये। जो दुबारा वापिस आये–वे 'बानमासी' कहलवाने लगे और जो कश्मीर में ही रह गये थे वे मलमासी थे। इनके रीति रिवाज, पहरावा, खान–पान में कोई मिलता नहीं थी। आपसी विवाह में भी कोई मनाही नहीं थी। केवल कुछ त्योहार थे, जो मलमासी और बानमासी अलग–अलग मनाते थे। बड़शाह राजा के समय ब्राह्मण लोगों ने संस्कृत भाषा को अपनाया और सरकारी नौकरियों पर काम करने लगे। उन्हें बड़ी–बड़ी पद्वियां मिलने लगीं। उस समय भाषा में परिवर्तन आया। फ़ारसी भाषा, राज भाषा बनी। पण्डित लोगों को अपनाने में बाधा आने लगी। फिर समाज में बदलाव आया। जिन्होंने संस्कृत भाषा और उसकी, आध्यात्मिकता को अपनाया, वे भाषा भर/गुरु बने, जिन्होंने फारसी भाषा को भी सीखा, सरकारी मुलाजिम बने रहे वे कारकून कहलाये जाने लगे। धीरे–धीरे यह भिन्नता समाजिक वर्गीकरण में परिवर्तित हो गई और दो वर्ग बने। 'कारकून' और दूसरे धार्मिक ब्राह्मण। धार्मिक ब्राह्मण, अपनी संस्कृति के साथ जुड़े रहे। वे पूजा करवाने लगे। शिवरात्रि, जन्म अष्टमी, महानवमी, जन्मदिन आधि इन सब पर्वो पर धार्मिक ब्राह्मण कारकून समाज की पूजा, कराने आते थे। अतः धार्मिक ब्राह्मण आर्थिक रूप से कारकून ब्राह्मणों पर निर्भर हो गये। इस आर्थिक चडघन के कारण कारकून लोग मानसिक तौर

पर अपने आप को धार्मिक ब्राह्मण से बड़ा समझने लगे। धार्मिक ब्राह्मण धीरे–धीरे कारकून के कुल गुरु बने, और वे उन्हें उनके बंधे परिवार, वार्षिक पैसे, और प्रत्येक पूजा अर्चना पर दक्षिणा देते थे।

इस आर्थिक निर्भरता के कारण धार्मिक ब्राह्मणों में बदलाव आया। उन्होंने अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दी, और वे डॉक्टर, इंजीनियर बने और 'गोर' गुरु जी का वर्ग धीरे–धीरे कम होने लगा और ऐसा लगता है कि अगामी समय में यह वर्ग 'अगली' पीढ़ी तक लगभग समाप्त ही हो जायेगा।

इन सब वर्गों में से एक वर्ग ऐसा बना, जिसने व्यापार किया। चाहे वह छोटा था, या बड़ा, इनको 'बुहिर' कहते थे। इन्होंने अपनी आजीविका का साधन, राशन बेचना, नानवाई हलवाई, पंसारी की दुकान लगाकर, करना शुरु किया और उन्हें सामूहिक तौर पर 'बुहिर' कहा गया।

इन तीनों वर्गों में अन्तरजातीय विवाह नहीं होते थे। पलायन के कारण यह वर्गीकरण लगभग समाप्त हो गया है, क्योंकि जीविका का साधन सब का एक जैसा ही हो गया है। अब वर्गीकरण पलायन के आधार पर है। जो लोग लगभग तीन सौ वर्ष पहले पलायन कर गये थे, उन्हें 'प्रयोन कोशुर' या पुराने कश्मीरी कहते हैं। जो लोग 1947 के आसपास पलायन कर गये वे कोशुर या कश्मीरी कहलाते हैं। जिनका पलायन 1989, 1990 में हुआ उन्हें माईग्रेन्टस कहते हैं। इन वर्गों में समाजिक भिन्नता हो गई। जिस प्रदेश में यह लोग गये, वहीं, का पहरावा, भोजन, भाषा को अपनाने से, इन में भिन्नता आ गई। पुराने कश्मीरी, कश्मीरी भाषा और संस्कृति को लगभग भूल चुके हैं। कश्मीरी कहलाने वाले विभिन्न प्रदेशों में अभी अपने संस्कार और अपनी भाषा और परम्परा को संजोए रखने में आधे अधूरे हैं। माईग्रेन्टस अभी अपनी धरोहर को सम्भाले हैं, परन्तु अगली पीढ़ी तक यह भी खत्म हो जायेगा।

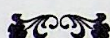
कश्मीर में एक वर्ग ओर उभरा। वह था शहरी और ग्रामीण। शहरी पढ़ा लिखा था; और नौकरी करता था। परन्तु ग्रामीण वर्ग अभी पीछे था। वे सेबों, अखराटों के बागों के, धान के बड़े–बड़े खेतों के मालिक होते थे ! परन्तु शिक्षा और सरकारी नौकरी की भिन्नता कारण उनका ग्रामीण वर्ग बन गया था। उन्हें 'गामुक' कहते थे। यह वर्गीकरण भी पलायन के बाद खत्म हो गया है, क्योंकि सबके जीविका के साधन एक जैसे हो गये हैं। लुप्त हो रही है हमारी धार्मिक संस्कृति क्योंकि गुरु जनों का अभाव हो गया है। क्या कोई इसे बचा सकता है? पलायन ने हमारी संस्कृति का विनाश कर दिया है।

'नामावली और संयुक्त परिवार'

कश्मीर में कभी भी किसी भी रिश्तेदार को उसके नाम से बुलाया नहीं जाता था। यह हमारे 'संयुक्त' परिवार की गरिमा थी। कभी चाचा चाची, दादा दादी, मामा मामी को उनके रिश्ते के नाम से नहीं पुकारते थे। संयुक्त परिवार में बच्चे मिल जुल कर पलते थे। अतः उन्हे यह भी नहीं पता लगता था, कि उनके असली माता पिता कौन हैं। जन्म सर्टिफिकेट का कानून, आजादी के बाद काफी देर के बाद बना। उससे पहले बच्चों के स्कूल जाने पर पिता के नाम की जगह किसी भी बड़े घर के सदस्य का नाम लिखवाते थे। मेरे ससुर जी (पापा जी) के सर्टिफिकेटों को जब हमने उनके देहान्त के बाद देखा, तो पता चला कि कही पर उनके असली पिता का नाम लिखा था और कहीं पर उनके 'ताया' जी का नाम लिखा हुआ था। इसलिए जब उनका मरन सर्टिफिकेट बनवाया, तो वहाँ पर माधव भट्ट 'ऐलिस' राघव भट्ट लिखवाया, मानों एक ही व्यक्ति के दो नाम थे। मेरे पति अपने चाचा के पास रहते थे। उनके स्कूल में दाखले के समय उन्हें उनके पिता का नाम पूछा गया, तो उन्होंने अपने चाचा का नाम लिखवा दिया था। घर आकर इन्होंने बताया कि, मैने 'भाई जान', (चाचा) का नाम लिखवाया है। फिर पापा जी' को स्कूल जाकर, अपने भाई का नाम कटवाकर अपना लिखवाना पड़ा। जब इनसे पूछा गया, कि अपके पिता कौन हैं तो इन्होने कहा कि मैं जानता हूँ कि मेरे पिता 'पापा जी' हैं, पर अगर मैं पापा जी का नाम लिखवाता, तो भाई जान नाराज हो जाते। अतः यह दर्शाता है कि कश्मीर में रिश्तों की बहुत कदर होती थी। प्रत्येक रिश्ते के नाम रखे होते थे। जैसे सबसे बड़े पुरूष का नाम 'बब', 'बड़े पिता' या दादा जी 'लकुट बब', छोटे पिता जी, 'भाई जान', 'भाई प्यारा', 'भाई गाश', बाय राज, भाई जी, बोबा, आदि कहकर बुलाया जाता था। माताओं, चाचियों को मंजं 'काकनी', 'बेनटाठी', 'छोटी भाभी', 'बड़ी भाभी', 'प्यारी दीदी' आदि कहकर पुकारा जाता था। जो अपने बराबर के लोग होते थे, जब उन्हें नाम

से बुलाते थे तो साथ में 'जी' अवश्य लगाते थे। जैसे 'रवि जी', 'अशोक जी', 'ऊषा जी', 'बवली जी'। यह उनके प्रति आदर, और स्नेह जताता था। नामावली में 'साहब' शब्द का प्रयोग भी बहुत होता था। जैसे 'भाई सहिब', यह नाम घर के सबसे आदरणीय व्यक्ति के लिए कहा जाता था। जवाई को भी उसके नाम से नहीं बुलाते थे, तो उन्हें उनके छोटे नाम के साथ 'जी' लगाकर पुकारा जाता था। आजकल दादा दादी, चाचा चाची, भैया भाभी, मामा मामी, जैसे शब्दों का प्रयोग होता है, वह तब नहीं होता था। संयुक्त परिवार के होने के कारण खान पान, कपड़ा और अन्य वस्तुओं में भिन्नता नहीं की जाती थी। कोई भी व्यक्ति अगर कोई वस्तु, अपनी पत्नी या अपने बच्चे के लिए लाता था, तो उसे पूरे परिवार के अन्य सदस्यों के लिये भी लाना पड़ता था। यह संयुक्त परिवार की प्रथा थी।

पलायन के कारण से सारे सामूहिक परिवार टूट कर बिखर गये, और ऐसा लगता है कि वह समय दुबारा लौटकर नहीं आयेगा।





खान पान



चावल यहाँ का मुख्य आहार है। श्रीनगर में हम मोटा देसी चावल इस्तेमाल करते थे, परन्तु पलायन के बाद आर्थिक स्तर अच्छा है, तो बासमती चावल प्रयोग किया जाता है। चावल को उबालने के बाद पिछ (पानी) निकाल कर या बासमती चावल को उबालने के बाद पानी बीच में सुखा कर 'छ्परावित' बनाते हैं। मीठा पलाव किसी किसी आयोजन पर ही बनता। नमकीन–पुलाव कम बनता। भोजन शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार का होता है। अधिकतर मांसाहारी ही होता है। ब्राह्मण होने के बावजूद हम मांसाहारी थें। शायद 4-5 महीनों बर्फ रहने से खेतों में सब्जियों का पैदा होना मुश्किल होता था। दालों की उपज कम होती हैं। अतः मांसाहारी भोजन की ज्यादा आदत पड़ गई थी।

मांसाहारी भोजन

रोगनजोश, कलियां, मच्छ (कीमा), यखनीं, खट्टी कलेजी 'चोक ज़रवन' 'वखन आलू' (कलेजी आलू) गुशताबा, तबखनाट कबरगाह, रिस्ता, शामी कबाब, आदि नाम से भी बनाया जाता था। कश्मीर में क्योंकि भेड़ें अधिक होती हैं, इसलिए भेड़ का मांस ही प्रयोग में आता था। भेड़ का मांस विभिन्न प्रकार से बनाया जाता था। कश्मीरी मांसाहारी भोजन पूरे संसार भर में शौक से खाया जाता है। भेड़ के सब अंगों का इस्तेमाल कश्मीरी भोजन मे होता था। कश्मीर से बाहर भारत वर्ष के दूसरे प्रान्तों में नहीं बनती। निम्न प्रकार का मासाहारी भोजन केवल कश्मीर में बनाया जाता है। जैसेः–

1. **दिमाग**–'ब्रेन–मग़ज़', इसे सरसों के तेल में भूनकर बनाया जाता था और आमतौर पर यह मरीजों को दिया जाता था।
2. **तिल्ली**–'पोह' भेड़ की तिल्ली को पहले उबाला जाता था, फिर उसके छोटे–छोटे टुकड़े काटकर तेल में तल कर बनाया जाता था,

उस पर नमक और थोड़ी सुन्ड, डालकर परोसा जाता था। यह आमतौर पर जच्चा को खिलाया जाता था। क्योंकि इसमें खून बनाने के अंश होते है।

3. **मेदा**–'डमिनी' भेड़ या बकरे का मेदा, अच्छी तरह से धोकर उबाला जाता था। फिर इसके छोटे छोटे टुकड़े करके, यखनी, या रोगनजोश की तरह बनाया जाता था।

4. **डियूडिनम**–'डयोम्ब कलपुश' इसे भी अच्छी तरह धोकर साफ किया जाता था। फिर इसे कलिया की तरह बनाया जाता था। इसका सूप भी बनता था। यह बीमार व्यक्ति एवं जच्चा को दिया जाता है।

5. **छोटी आंत**–'चिचुर'–इसको कश्मीरी समाज में इस्तेमाल करने का बहुत प्रचलन था कश्मीरी शादी विवाह, सात्लिवुन, मेंहदी रात, हर प्रयोजन पर खिचड़ी बनती है। जिसे 'वंर' कहते हैं, इसमें 'चिचुर' (छोटी आंत) डालते थे। 'चिचुर' वाली खिचड़ी का भोग लगाकर, सारे परिवार जनों और मित्रगणों में बाँटा जाता है।

6. **कलेजी** 'लिवर–'चरवन', इसे कई प्रकार से बनाया जाता था। जैसे 'चोक चरवन', 'चरवन आलू' इति।

7. **गुर्दे कपूरें**–इन्हें भी कलेजी के साथ या अलग पकाकर परोसा जाता था।

8. **फेफड़े और दिल**–'शूशनोर' और दिल इनको चक्रीश्वर, भैरव, खिृंव में बली के रूप में भेंट किया जाता है। उसे इन धार्मिक स्थानों पर इसे चीलें खाती हैं। इस प्रथा पर, हमारे समाज में बहुत आस्था रखी जाती थी।

9. **खरोड़े**–'पाचिं' इनको भूनकर, बाल जलाकर, खाल उधेड़कर, उबाला जाता था। और उसका सूप बनाकर मरीज को दिया जाता है।

घर में जब शादी ब्याह होता था, तो भेड़ या बकरे को घर में ही मारा जाता था। उसे 'कठ मारून' कहते थे। इस प्रकार भेड़ या बकरे के मांस के अलावा उसका प्रत्येक अंग किसी न किसी तरह से इस्तेमाल हो जाता था।

मछली 'गाड़'

कश्मीर में मछली का बहुत–प्रयोग होता था। कई त्योहारों में इसका विधिपूर्वक इस्तेमाल होता था। जैसे–'गाड़ बत्'–'खेचमावस'। मछली को बनाने का अपना अलग ही तरीका होता था। इसे विभिन्न सब्जियों के साथ भी जैसे–मूली और मछली 'मुजॅ गाड़' 'नदरू' में और मछली 'नदिर गाड़', गाठ गोभी और मछली 'मोंज गाड़' बनाते थे। मछली को सीधा तेल में तलकर, सूखा भी परोसा जाता था। सूखी मछली–'होगाड़', गर्मियों में मछली को सुखाया जाता था और उसे सर्दियों में इस्तेमाल किया जाता था।

मुर्ग

मुर्गा खाना हमारी प्रथा नहीं थी। पंडित लोग मुर्गा नहीं खाते थे। औरते उसको छूती भी नहीं थी। और रसोई में लाने की मनाही थी। धीरे धीरे इसका सेवन शुरू हो गया था। और पुरुष लोग इसे रसोई से बाहर डब में (बालकनी में) बनाते थे। ज्यों ज्यों समय बीतता गया मुर्गे को बनाना शुरू हो गया और अब यह भोज का एक आवश्यक अंग बन गया है। 'पछिन' कश्मीर में प्रवासी पक्षी आते थे। उन्हें 'पछिन' कहते थे। उनका शिकार किया जाता था और उसे बहुत चाव से बनाया जाता था। परन्तु पक्षियों को मारने पर अंकुश लग जाने से 'पछिन' बनाना बन्द हो गया है।

शाकाहारी भोजन

कश्मीर का शाकाहारी भोजन पूरे भारतवर्ष के खाने पीने से भिन्न है। गांठ गोभी और कड़म का साग 'हाख', हमारा प्राथमिक भोजन था। उसे हाख़ बत्ता कहते थे जैसे पंजाब में दाल रोटी कहा जाता है। कमल ककड़ी, कश्मीरी मूली, कश्मीरी बैंगन, कश्मीरी पालक, सुंचल, लीसा आदि हरी सब्जियाँ वहाँ पैदा होती थीं। अतः इनका सेवन बहुत होता था। प्रत्येक घर में अगर छोटा सा भी आंगन होता था, उसमें हरी सब्जी उगाई जाती थी। धीरे धीरे समय के परिवर्तन के साथ बाकी सब्जियों का भी सेवन शुरु हो गया था। लहसुन, अदरक, और प्याज हमारे समाज में बिल्कुल भी इस्तेमाल नहीं होते थे। पलायन के बाद जो लोग जिस प्रान्त में गये, उन्होंने वहाँ की परम्परा अपनायी।

टमाटर—टमाटर भी कभी इस्तेमाल नहीं होता था। परन्तु धीरे धीरे सामाजिक परिवर्तन के साथ इसका इस्तेमाल बढ़ गया।

पनीर—'ज़ामन' शाकाहारी भोजन का अभिन्न अंग है। पनीर कई प्रकार से बनता था, जैसे कड़ चामन, पीली ज़ामन, 'लेदॅर चामन' पालक चामन, गोभी ज़ामन, मटर चामन अतः पनीर को किसी भी सब्जी के साथ बनाया जा सकता था।

आलू का प्रयोग बहुत होता था। दमआलू यहाँ की बड़ी प्रचलित सब्जी थी। जिसे पूरे भारत वर्ष में, होटलों में भी परोसा जाता था।

भें 'कमल ककड़ी' या 'नदरु' इसका सेवन कश्मीर में बहुत होता था। इसे किसी भी सब्जी में डालकर बनाया जाता था। 'नदुर गाड़', 'नदुरू और शलगम', 'नदुर गोगजी' 'नदुर' मोंज' और 'गांठ गोभी', 'नदुर हाक' बनाये जाते थें। नदरु की सब्जी जो अपने आप में स्पेशल सब्जी थी। जैसे 'नदिर यखनी', 'नदिर चुर्मा', 'नदिर मौंज', 'खट्टे 'चोक' नदुरू' बहुत पसन्द किये जाते थे।

हरी मिर्च—प्रत्येक हरी सब्जी में हरी मिर्च डाली जाती थी। इससे खाने के स्वाद में फर्क आ जाता था। यह अधिकतर गांठ गोभी, हाख, में ज्यादा इस्तेमाल होता था। हरी मिर्च और अखरोट की गिरी की चटनी बहुत प्रचलित थी।

दही—'जामुत दोद' दही का प्रयोग बहुत होता था। "यखनी" चाहे वह मीट की हो, या सब्जी की, उसमें दही का प्रयोग बहुत होता था। सादा दही केसर और बादाम की गिरी से सजाकर खास मेहमान को परोसा जाता था। वधु अपने मायके से दही के बड़े बड़े कुन्डे, जो केसर और बादाम से सजे होते थे शगुन के तौर पर लाती थी, जिसे रिश्तेदारों में बाँटा जाता था।

दही की लस्सी—यह बहुत प्रचलित थी। दही को मधानी से मथते थे, 'छोंफ दिथ' और उसमें काला ज़ीरा और नमक डालकर पिया जाता है।

बासी चावल—दही की लस्सी, काला नमक, सूखा पुदीना (तुरून बतं ज़ामुत दोद लंस तं नून) खाने का बहुत प्रचलन था। अब यह लुप्त हो चुका है।

सूखा पुदीना—गर्मियों में पुदीने को सुखाया जाता था। पूरा वर्ष इसका इस्तेमाल होता रहता था। पुदीने की चटनी, दही और अखरोट की गिरी के साथ, प्रयोग में आता था।

हरी मिर्च की चटनी—हरी मिर्च को ओखली में कूटकर दही मिलाकर चटनी बनाते थे। इसका बासी चावल, दही (तुरून बते, जामुत दोद) के साथ इस्तेमाल होता था। इसकों 'मरच़्वंवणन चेटिन' कहते थे।

सूखी सब्जी—गर्मियों में सब्जियों को काटकर धोकर माला बनाकर, धूप में 'सूखने के लिए रखते थे। जैसे कश्मीरी बैंगन, घीया, गोभी,' 'शलगम' 'नदरु' आदि इन्हें "वांगन हचि", अलंहचि आदि कहते थे। इन सूखी सब्जियों को सर्दियों में उबालकर पारम्परिक ढंग से बनाया जाता था।

मूली—मूली का हमारे समाज में बहुत इस्तेमाल होता था। मूली को कद्दू कस करके, दही में डाला जाता था। इसको मूली की चटनी, "मुजं चटिन" कहते थे। कद्दू कस करके मूली को सरसों के तेल में भूनकर बनाने को तली हुई "मुजं चटिन" कहते थे।

कश्मीर में सब्जियों के बड़े अजीब अजीब से योग (combinations) बनाकर पकाते थे। जैसे घीया और बैंगन "अलॅ वांगुन", मूली के पत्ते, और मूली "मुजे मुलविन" करेला और बैंगन "करेलं वांगुन" इति। इन सबका वर्णन इसलिए कर रही हूँ, क्योंकि यह सब कुछ कश्मीर के बाहर कहीं नहीं बनता। यह हमारी मातायें, दादी और नानी बनाया करती थी। पलायन के बाद यह सब सब्जियां बनानी बंद ही हो गई। जिस प्रान्त में कश्मीरी परिवार रहने लगा, वहां के खान पान का उन पर असर पड़ा। जम्मू में क्योंकि हमारी संस्कृति अभी बची है, तो यह सब सब्जियों अभी भी बनती है।

दालें

कश्मीर में दालों का प्रयोग कम होता था।

साबुत मूंग खिचड़ी वाली अमावस 'खेच्च मावस' के दिन खिचड़ी में प्रयोग की जाती थी। मूंग की धुली दाल का प्रयोग घरों में आम होता था। महा यज्ञ वाले दिन, यज्ञोपवीत 'मेखल' के दिन इसका प्रयोग होता था। रात को 'पूर्णआहूति' के बाद दाल चावल का प्रसाद विधिवत बाँटा जाता था। पलायन के बाद भी, यह प्रथा अभी भी चल रही है।

मूंग की धुली या दली दाल में, गांठ गोभी, 'मंजं दाल', मूली दाल "मुजॅ दाल", कमल ककड़ी, दाल 'नदिर दाल' और भी स्वादिष्ट लगती थी। दली हुई मूंग की दाल की टिक्की बनती थी, जिसे 'मोंगवरि' कहते थे। 'मोगंवरि'

प्रत्येक पूजा में खीर के साथ 'दिवत् तबचि' में रखा जाता था। यह हमारी पारम्परिक प्रथा थी।

राजमा—राजमा कश्मीर का बहुत स्वादिष्ट आहार था। राजमा में शलगम डाल कर जिसे 'राज़मा गोगजी', कहते हैं बहुत बनाया जाता है। "राजमा गोगजी" राजमा शलगम हांड़ी में चूल्हे की धीमी आंच पर सुबह से शाम तक पकाई जाती थी। आजकल यह दाल सब्जी प्रेशर कुकर मे बनती है। परन्तु जो हांडी में बनी राजमा शलगम में स्वाद होता था वह और किसी भी प्रकार से बनाने मे नही होता था। यह हमारी अत्यन्त लोक प्रिय दाल सब्जी थी। और अभी भी प्रत्येक घर में बनती है।

वारिमुठ—काली रौंगी। यह भी अत्यन्त लोकप्रिय दाल थी। यह कश्मीर के इलावा भारत के किसी भी प्रान्त में नहीं मिलती। इसे भी हांडी में पकाया जाता था। इसे कश्मीरी में 'डबमांह' कहते थे। जब सर्दियों में बर्फ पड़ती थी और आंगन बर्फ से ढके होते थे। 'वोट' (सबसे निचली मंजिल के कमरे) की खिड़की पर बैठ कर 'डबमाह' यानि वारिमुठ की सूखी दाल बना कर खाया करते थे। वारिमुठ, राजमा शलगम, की तरह 'वारिमुठ मोगजि' भी बनाया जाता था। यह प्रथा हमारे घरों में अभी भी चलती है।

डबा मसाला और शिशर गंठ—छत के किनारे पर बर्फ की बून्द बून्द गिरने पर एक लम्बी सी बर्फ की डंडी बन जाती थे। उसे 'शिशर गंठ' कहते हैं। सर्दियों में शिशर गंठ को और 'डब मसाले' को 'वोट' की खिड़की में बैठ कर, बडे शौक से खाया जाता था।

तेल का प्रयोग—हमारी सारी सब्जियां सरसों के तेल में बनती है, क्योंकि वहाँ केवल सरसों पैदा होती थी। उसे "तील गगुल" कहते थे।

देसी घी—देसी घी का प्रयोग पूजा पाठ, विशेष धार्मिक उत्सवों में प्रसाद बनाने में काम आता था। जैसे सत्यदीव, पन, हवन, महाँयज्ञ में प्रयोग होता था। जन्म दिन पर, पीले चावल "तंहर" में भी इस्तेमाल होता था। देसी घी से दीप जलता था, जिसे "रतन दीप" कहते है। इसे अभी भी "खीर भवानी, जेष्ठा देवी" धार्मिक स्थलों पर जलाया जाता है।

मसाले—मसाले का प्रयोग पूरे भारत वर्ष से भिन्न है। जैसे पीसी हुई सुण्ड, सौंफ, लाल कश्मीरी मिर्च, लौंग, इलाईची, छोटी और बडी, दालचीनी, हींग, कश्मीरी काला जीरा, केसर, दही और सब मसालों की मिश्रण, टिक्की का मसाला, उसे 'वर' कहते हैं।

वरं–टिक्की का मसाला घर में गृहणियां खुद बनाती थी और सारा वर्ष उसका प्रयोग करती थी। उन दिनों पनचक्की हुआ करती थी। चक्की जो पानी से चलती थी। पनचक्की या ग्राट उसे 'ग्रट्ट' कहते थे। मसाले पिसवाने जाना एक पिकनिक का प्रोग्राम होता था। पूरे वर्ष भर का मसाला, ग्राट पर आकर पिसवाया जाता था। वहां पर मीट, चावल, 'शीर चाय' नमकीन चाय, कहवा साथ ले जाकर सब का आनन्द लूटा जाता था। आजकल पिसे पिसाये मसालों के मिलने के कारण यह पिकनिक लगभग समाप्त हो गई हैं।

आटा

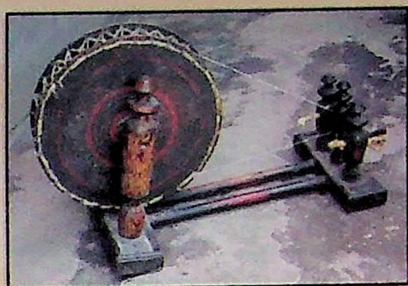
कश्मीर में कई प्रकार का आटा इस्तेमाल होता था, जैसे गेहूँ का आटा, चावल का आटा, सिंघाड़े का आटा। प्रत्येक आटे का इस्तेमाल अलग–अलग तरीके से होता था।

गेहूँ का आटा

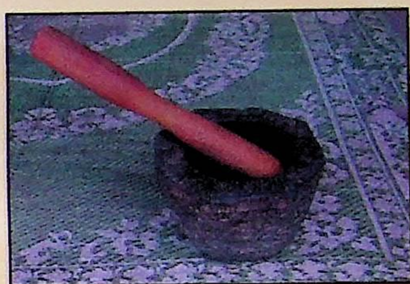
कश्मीर में गेहूँ की फसल नहीं उगाई जाती थी। इस प्रकार गेहूँ का आटा कम इस्तेमाल होता था। यह केवल नानबाई 'कान्दुर' तक ही सीमित था। नानबाई कई प्रकार की कश्मीरी रोटियाँ जैसे–'कुल्चा', 'घी की रोटी', 'टख़टची' आदि बनाते थे। सुबह नाश्ते में नानबाई की बनाई कश्मीरी रोटी, 'लवासा' कहवे के साथ खाते थे।

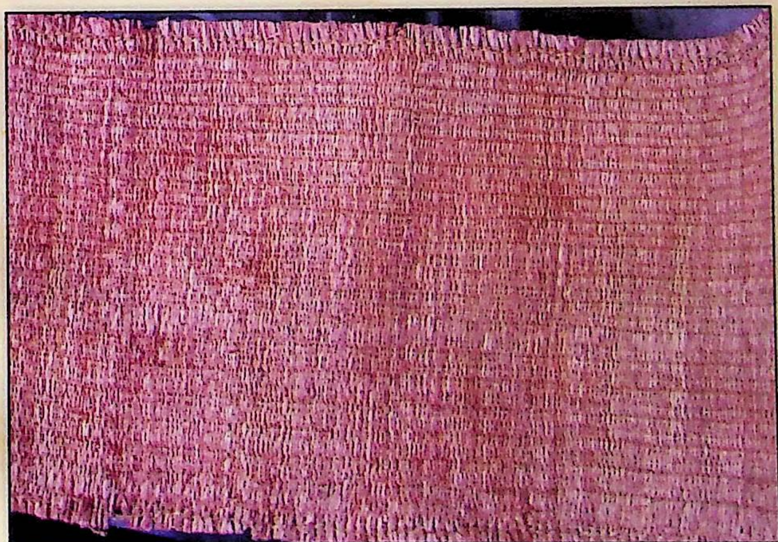
दोहरा फुलका–"फुलकं" इसे घर में गृहणियां बनाती थीं। यह हमारी पारम्परिक रोटी थी। इसे दुकंवारि ज़ोट' भी कहते थे। इसमें आटे के दो छोटी छोटी लोई लेकर, उस पर सरसों का तेल, या घी लगाते थे। फिर उसे चकले पर बेला जाता था, और फिर तवे पर धीमी आंच पर सेकते थे। इसकी दो परते उतर जाती थीं। इसे 'दुकंवारि ज़ोट' कहते थे। जिन घरों में नानबाई से नाश्ते के लिए रोटी–नहीं लायी जाती थी, वे लोग घर में दोहरा फुलका और कहवा परोसते थे। दोहरे फुलके को परोसने का भी एक विशेष तरीका होता था। इसे परोसने वाला रोटी की गोल गोल लोई सी बनाकर, खाने वाले के हाथ में पकडाता था। खाने वाले उसे किसी छोटे तौलिये से पकड़ कर खाते थे। जब किसी का देहान्त होता था। तो क्रिया के दिनों में नानबाई की लायी हुई रोटी, डबलरोटी, परौंठा आदि इस्तेमाल नहीं किया जाता था अतः बारह दिन नाश्ते में, दोहरा फुलका ही इस्तेमाल होता था।


विभिन्न प्रकार की कांगड़ियां


चरखा, यन्दॅर


बड़ी-छोटी ओखली


ओखल एवं मूसल


'वगुव' चटाई



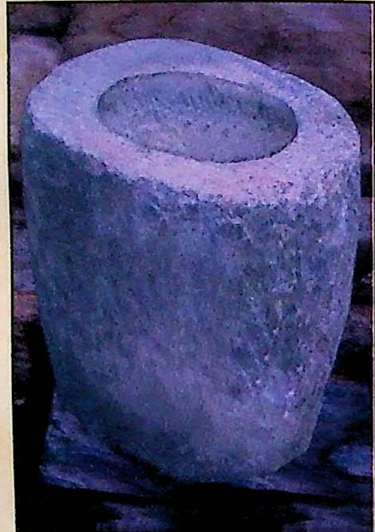
छजज, शुप



चक्की ग्रहट्ट



हुक्का, जजीर



'कंज' बड़ा मूसल



सुण्ड सौंफ और कश्मीरी मसाले



वरं टिक्की का मसाला

परौंठा—परौंठा सन् 1947 के बाद पंजाब से आया, जब भारत के बाकी प्रान्तों में आवाजाही शुरू हुई तो हमारे घरों में भी परौंठा बनने लगा। पहले पहले परौंठा देसी घी में बनाते थे। फिर धीरे धीरे दूसरे घी में जैसे—डालडा घी में बनाते थे। जो उन दिनों बहुत प्रचलित था।

'पूर'—यह गेहूँ के आटे के बनते है। आटे में देसी घी—चीनी का घोल डाल कर दूध से गूंधते थे। फिर उनकी रोटी बना कर, देसी घी मे तलते थे। उसे पूर कहते थें। इसकी पूजा होती थे। इसे सत्यदीव भी कहते थे। इसकी प्रथा अभी भी प्रचलित है।

रोठ—पन का उत्सव वार्षिक उत्सव होता था। इसमें गेहूँ के आटे में, देसी घी, चीनी, मोटी इलायची डाल, दूध से गूंधा जाता था। फिर मोटी मोटी रोटी बना कर उसे कटोरी से डिज़ाइन बनाकर, उस पर दही में मिली हुई खसखस लगाते थे और फिर खुले घी में तलते थे या धीमी आंच में सेकते थे। फिर इनकी पूजा की जाती थी। और सब रिश्तेदारों, मित्रों में बांटी जाती थी।

'रामलोडं'—छोटे छोटे लडडू आटे में दूध, चीनी, घी, डालकर गूंदने के बाद एक लम्बी सी लोई बनाते थे। फिर उसे गोल गोल घुमाकर छोटे—छोटे लडडू बनाते थे, उसे रामलोडं कहते थे। एक हजार एक लडडू यज्ञ में होम दिये जाते थे। मंगलवार को इसका प्रसाद मेरे घर के पास गनपतयार में बाँटा जाता था।

लुच्ची—यह मैदे की बनती है। यह बड़ी प्रचलित थी। मैदे को गूंदकर, उसमें खमीर डाला जाता था। फिर उसकी लोई बनाकर हाथों से फेलाकर, सरसों के तेल में तलकर, पूरी की भांति बनाया जाता था। इसे गरम गरम परोसा जाता था। खीर भवानी में, कहवा और 'लुच्ची', हलवाई बनाता था। इसे हम प्रसाद समझकर खाते थे, और अपने रिश्तेदारों, के लिए भी ले जाते थे। अब न रहे वो लुच्ची बनाने वाले, खीर भवानी की दुकानें, और ना ही उसको खाने वाले रिश्तेदार, सब कुछ बिखर गया है। रह गई केवल यादें।

चावल का आटा

कश्मीर में चावल का आटा बहुत इस्तेमाल होता था। शिवरात्रि के दिन चावल के आटे की रोटी बनाई जाती थी। इसे भीगे हुए अखरोट की गिरी

के साथ खाने में अपना ही आनन्द था। चावल के आटे की रोटी और अखरोट का प्रसाद मित्रगणों को भी बाँटा जाता था।

चावल के आटे का डोसा—'यह चावल के आटे को भिगोकर उसका घोल बनाया जाता था, जिसमें नमक और काला जीरा डाला जाता था। सरसों के तेल की परत डालते थे, जब तेल जल जाये, तो चावल के आटे का घोल उस परं डाला जाता था। वह घोल करछी से फैलाकर पकाया जाता था, जब पक जाये तो पलटा दिया जाता था। पलटने के बाद जब वह करारी हो जाये तो कहवे के साथ यह परोसी जाती थी।

चावल के आटे के दिय—'रतनं च़गिंजी'—चावल के आटे को गूंदकर एक पेड़े को दिये का आकार दिया जाता था। उसमें देसी घी और बाती डालकर, जलाया जाता था। इसे 'रतन चगिंज' कहते थीं। इन दियों का इस्तेमाल एक थाली में रखकर दूल्हा, दुल्हन की आरती उतारने के काम में लाया जाता था। दूल्हे के आने पर इधर उधर, भागा दौड़ी हो जाती थी, 'रतन च़ंगिजी' ढूँढ़ी जाती थी। गृहणी चिल्लाती थी 'हतयी' 'रतन च़ंगिजी' कति थवयं" अतः तुमने दिये कहाँ रखें हैं। चावल के आटे के दियों का चलन पलायन के बाद अभी भी हो रहा है।

चावल के आटे की रोटी—गाँव में प्रायः चावल के आटे की रोटी नाश्ते में बनती थी। क्योंकि गेहूँ का अभाव होता था, अतः चावल का आटा ही घरों में इस्तेमाल होता था।

फिरनी—कश्मीर में मिठाइयाँ नहीं होती थी। चावल के आटे की खीर बनायी जाती थी। चावल के आटे का घोल बनाकर, दूध में उबाला जाता था। जब यह उबल उबल कर गाढ़ा हो जाता था, इसमें बादाम गिरी, किशमिश डालकर पलेटों, या टोक में उलटाया जाता था। थोड़ी देर में यह जम जाता था और इस पर केसर से सजाने के बाद, परोसा जाता था।

'याजि' चावल के आटे की इडली—याजि, चावल के आटे की बनती थी। इसी प्रकार का व्यंजन दक्षिण भारत में भी बनता है। जिसे इडली कहते हैं। 'याजि', चावल के आटे में पानी डाल कर गूंधते थे, फिर उसमें काला जीरा, नमक और पिसी हुई अखरोट की गिरी डालकर उसका पेड़ा बना कर उस कटोरीनुमा आकार देते थे। फिर हांडी में रख देते थे। वे हांडी के भांप से पक जाती थी। उन्हें पकाकर तेल में तला जाता था और कहवे के साथ परोसा जाता था।

'याजि' शायद खाने में सख्त होगी होगी अतः इसके साथ एक लौकोक्ती कहने में आती है, "केहय याजि छक चापान"—क्या याजि चबा रही है यानि, क्या खाना पसंद नहीं आया जो कोर को मुँह में ही रख कर बार—बार चबाई जा रही है।

इसके लिए एक और लौकोक्ती प्रचलित थी

याजि खेवान वंज रोवुम मंजी'

माता याजि खाते खाते मेरी मां अंगूठी गुम गई है। अगर इन शब्दों को बार—बार दोहराया जाये तो शब्द इधर के उधर हो जाते हैं। यह एक रोचक शब्दावली होती थी।

सिंघाड़े का आटा

सिंघाड़े का आटा गॉरिओट—इसका हमारे समाज में बहुत प्रयोग होता था। सिंघाड़ा तालाबों, झीलों में पैदा होता है। यह एक प्रकार की वीड्स है। जो अपना फल देती है, जिसे सिंघाड़े कहते है।

कच्चा सिंघाड़ा—कच्चे सिंघाड़े को छीला जाता था और उसकी गिरी को नमक लगाकर, कच्चा ही खाया जाता था।

उबला सिंघाड़ा—सिंघाडे को पानी में उबाला जाता था और उबालने के बाद छीला जाता और उस पर नमक और पिसी लाल मिर्च मिलाकर खाया जाता था।

तला हुआ सिंघाड़ा—सिघाड़े को छीला जाता था और गिरी को सरसों के तेल में तला जाता था। जब भूरा हो जाये तो, उसे निकालकर, नमक, पिसी लाल मिर्च और थोड़ी सी पिसी सुण्ड डालकर, खाया जाता था। सार्दियों में जब बाहर बर्फ पड़ी होती थी, तब 'वारि मुठ' दाल, जिसे डब मसाला भी कहते थे। उसी प्रकार से तले हुए सिंघाड़े भी 'वोट', की खिड़की में बैठकर खाते थे।

सिंघाड़े का आटा—सिंघाडे के आटे को अन्न नहीं माना जाता, अतः औरतें सिंघाड़े को सुखाकर, घर की चक्की मे पीसा करती थी। अब मशीनी चक्की में बनता है। सिंघाड़े के आटे को प्रत्येक व्रत में इस्तेमाल किया जाता था, जैसे शिवरात्रि, जन्मअष्टमी, एकादशी, अमावस, दुर्गा अष्टमी, इति, इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार से होता था।

सिंघाड़े के आटे का हलवा—देसी घी में सिंघाड़े के आटे को भूनकर उसमें दूध, चीनी, पानी का घोल डाला जाता था और इसे धीमी आँच पर उबाला जाता था। सिंघाड़े का आटा फूलकर हलवे का रुप ले लेता था। इसे सब लोग खुश होकर खाते थे।

सिघाड़े के आटे का मीठा पूर—सिंघाड़े के आटे को चीनी, मोटी इलायची के दाने डालकर, गूंधकर, लोई बनायी जाती थी। लोई में से एक एक पेड़ा ले कर, हाथों पर फैलाकर धीमी आंच पर खुले देसी घी में तला जाता था। यह पूर नमकीन भी बनते थे उसमें चीनी के बदले नमक डाला जाता था, नमकीन पूर, मीठा पूर, अथवा हलवा, कहवे के साथ परोसा जाता था और आनन्द लिया जाता था।

सिंघाडे के आटे के पकौड़े—सिंघाडे के आटे के नमकीन पकौड़े भी बनाये जाते थे। यह आम तौर पर आलू या बैंगन के बनते थे।

सिंघाड़े के आटे के शक्करपारे—सिंघाड़े के आटे के शक्करपारे, बनाये जाते थे। सिंघाड़े के आटे में शक्कर और घी डाल कर गूंथा जाता था। फिर लोई बना चकले पर रोटी के समान बेलते थे। रोटी बेलने के बाद चाकू से छोटे–छोटे चकोर टुकड़े काटा करते थे। जिन्हें घी में तला जाता था। जब भूरे रंग के हो हो जाते तो निकाल लेते थे।

शक्करपारे बहुत प्रयोग में आते थे। इन्हें सुच्चा माना जाता था। प्रत्येक व्रत में कहवे के साथ परोसते थे। वृत वाला व्यक्ति एक हाथ में खूास जिसमें 'कहवा' होता था, दूसरे हाथ में छोटे तौलिये पर शक्करपारे रख कर एक–एक करके खाता था। सुच्चे माने जाने के कारण इन्हें किसी प्लेट या कवली में नहीं रखते थे।

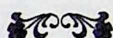
शक्करपारे मेखला में ढेरों बनाये जाते। यह 'वाज़ा' बबर्ची बनाता। उसे बड़े सारे 'क्रेजुल' केन की टोकरी में अखबार बिछा कर रखा जाता। गृहणी उसे अपनी 'बानकुंठ' स्टोर में रखती। बच्चे हाथ पसार कर गृहणी से मांगते रहते। थोड़े से शक्कर पारे दे दो। वह चिल्लाती यह मेखलं में काम आयेंगे। तुम खत्म कर दोगे। फिर भी दो तीन टुकड़े हाथ में धर देती। मेखला के दिन लोग 'अबीद' (गुरु जी को शगून के नाम पर पैसे देते थे) डालने आते, उन्हें 'मासं दोध' मासी का बांटा दूध, 'फोफ दोदं' भूआ का बाटा दूध, इलाईची बादाम डाल कर, लोगों को पिलाया जाता और शक्कर पारे खिलाये जाते। लोग शक्करपारे कुछ खा कर, कुछ छुपा कर अपने घर

बच्चों के लिए ले जाते। घर की गृहणी अपने खास मेहमानों को शक्कर पारे भेंट में देती। मेरी दादी जब किसी भी मेखला में 'अबीद' डालने जाती तो मेरे लिए शक्करपारे अवश्य लाती। मैं उस समय नहीं जानती थी कि दादी मेरे लिए, अपने लिए दिये हुए शक्करपारे बचा कर घर लाती थी या उसे वे लोग घर ले जाने के लिए भेंट देते थे।

हम विस्थापित लोगों के घरों में सिंघाड़े का आटा और उसकी बनने वाली प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं का बहुत महत्त्व है। यह अभी भी उसी प्रकार प्रयोग की जाती है जैसे पहले कश्मीर में होती थी।

वरं

चावल की खिचड़ी जिसमें अखरोट या मोट को डाल कर बनाया जाता है। यह प्रत्येक विवाह के शुभ मुहुर्त पर बनाई जाती है और इसे दोहरे फूलके के साथ खाया जाता है। वरं बनाकर इसका प्रशाद चिड़िया को डालते हैं और वनवुनं से मंगल गीत गाते हैं।





कश्मीर के मकान



कश्मीर के पुराने मकानों का आर्कीटेकचर एक जैसा ही था। यह छोटी ईंटों के पत्थर के और चीकनी मिट्टी के बने होते थे। पुराने शहर के घर संकरी गलियों में थे। गलियां पीछे 'पोत बाज़र' (पिछला बाज़ार) यानि खुली मोटर चलने लायक सड़कों में खुलती थीं।

मेरा बचपन दादी के घर, हब्बा कदल रघुनाथ मंदिर के पास था। ससुराल गणपतयार में, नानी का घर भॉना मुहल्ला और बूआ का घर चींकराल मुहल्ला में था। यह सब घर श्रीनगर में आस–पास एक ही स्थान पर केन्द्रित थे। अतः प्रत्येक घर एक जैसा ही था। चार से पांच मंजिले मकान, सामने आंगन, और उनमें फुलवारी, यह सब यहां की खासियत थी।

मुख्य द्वार

मकान के आंगन का द्वार गली में खुलता था। द्वार लकड़ी का होता था। सबसे बड़ी बात यह थी, कि उसमें 'तोर' घुमावदार कुण्डा लगा होता था, जो बाहर का व्यक्ति खुद ही घुमा कर खोल कर अन्दर आ जाता था। बाहर के दरवाजे पर एक संगलनुमा कुंडी लगी होती, जो एक हुक में फसती थी, और वहां पर ताला लगाया जाता था। जब घर के लोग चौथी मंजिल या 'कंनी' पर रहते थे, तो नीचे आकर कुण्डी खोलनी मुश्किल थी। वे इसे रस्सी से बांध कर रखते थे जो ऊपर 'डब' तक जाती थी। जब कोई दरवाजा खटखटाता था, तो ऊपर से ही रस्सी खीच कर कुंडी खोल दी जाती, और आगन्तुक अन्दर आ जाता था और फिर वही उस कुंडे से दरवाज़ा बन्द कर देता था। यह सब अपनी सुविधा के लिए किया जाता था।

आंगन में एक लकड़ी का कमरा बना होता था। जिस में धान रखा करते थे। हमारे परिवार वालों के पास गांव में जमीन थी, जो बटाई पर दी

होती थी। साल भर बाद वे फसल के उत्पादन का कुछ हिस्सा हमें देते थे। जिसे 'कुछ' लकड़ी के कमरे में इकट्ठा करते थे। गृहणियां फिर इसे धीरे–धीरे 'कंज' (बड़ी ओखल) में मूसल से धान कूटती और चावल बनाती थी। फिर बीन कर उसे प्रयोग में लाया जाता था। धीरे–धीरे बदलाव आया। जमीदारों ने धान देना बंद कर दिया, और 'कुंछ' का इस्तेमाल खत्म हुआ। शहर में धान काटने वाली मशीनें भी आ गई। चावल बिकने लगे। 'कंज़' आंगन के कोने में चला गया, और आजकल यादगार के रुप में किसी किसी घर में पड़ा हैं।

प्रत्येक घर में छोटी सी कच्ची जगह होती। वहां गेन्दे के फूल अवश्य उगाते थे जो प्रतिदिन पूजा में भगवान को चढ़ाते थे। कुछ क्यारियों में हांख, गाठगोभी, सुंचल, आदि सब्जियां उगाई जाती थी जो घर में प्रयोग की जाती थी।

मकान का आर्कीटेक्चर, एक कलात्मक ढंग का था। सब सुविधाओं को ध्यान में रखकर घर बना हुआ था। यह चार से पांच मंजिला मकान होते थे और नामावली इस प्रकार थी :– ब्रांध, वुज़, वोटं, चोकं, बोड़ कुठ, ठोकुर कुठ़, बान कुठ़, बैठक, कंनी, शाहशीं, डब, कंनी चोंकं, बानं, बिरेरकंनी और टावर।

ब्रांध

'ब्रांध' चबूतरा घर के बाहर आंगन से ऊँचा होता था। उसका स्तर ऊँचा शायद इसलिए होता था, कि वर्ष में चार महीने बर्फ पड़ती थी, आंगन बर्फ से भरा रहता था। अतः घर के वोट की खिड़की इस बर्फ के, आम तौर के स्तर से ऊँची होती थी। इस लिए घर के अन्दर घुसने के लिए एक 'ब्रांध' चबूतरा होता था, जो तीन या चार सीढी चढ़ने के बाद होता था। यह चबूतरा ड़योढी में खुलता था।

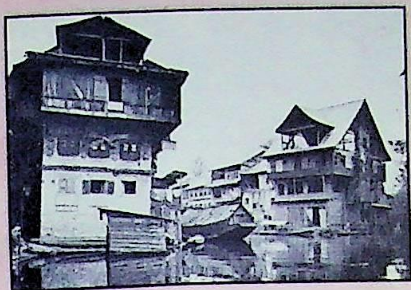
पहली मंजिल वुज़, ड़योढी

यह ब्रांध से अन्दर, दरवाजें से अन्दर घुसने के बाद होती थी। यह मकान के मध्य में थी। प्रत्येक घर की सीढी 'वुज़' (ड़योढ़ी) से ही शुरु होती थी। ब्रांध और डयोढ़ी 'बुज' दोनों प्रतिदिन सुबह उठकर ग्रहणी साफ करती थी और लीपती थी। जिसे 'ब्राघ फशं' कहते थे। यह घर की समृद्धि का प्रतीक होता था। अतः यह फलता फूलता घर है। 'ब्राथ फशं' का ध्यान अवश्य रखा जाता था, अगर गृहणी बीमार हो तो यह काम कोई और महिला कर देती थी।

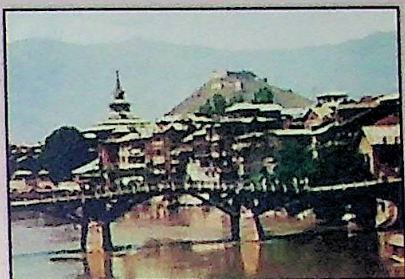
निचला कमरा और रसोई' 'वोंटॅ एवं चोकं'

वुज के दोनों ओर दो बड़े–बड़े कमरे होते थे। खिड़कियां बाहर आंगन में खुलती थी, इसे वोट कहते थे। बायां वोट और दायां वोट। सर्दियों में रहने के लिए यही प्रयोग में लाया जाता था। वोट के पिछले हिस्से को लकड़ी के पार्टीशन, से विभाजित किया हुआ होता थ। उस पार्टीशन में एक तरफ 'घरवंन्ज्य' पानी के घड़े रखने का स्टेण्ड होता था। मध्य में अन्दर जाने के लिए खुली चौखट, इसमें दरवाजा नहीं होता था, चौखट को 'दास' कहते थे। फिर दाई तरफ बड़े बर्तन रखने का स्टेण्ड था, जहां बड़े पतीले, डुल, दीचा आदि रखा जाता था। यह पार्टीशन वोट को दो भागों में बांटता था। अगला भाग बैठने के लिए, और पिछला रसोई घर। रसोई पारम्परिक रसोई होती थी। सामने दान, बड़ा दान, दुकचोर, ओक्चोर अतः क्रमशः तीन, दो, एक, बर्तन रखने वाले चूल्हे होते थे। बाई तरफ बर्तन धोने के लिए 'खोर' होता था। जिसके पानी का निकास बाहर गली की नाली में होता था। दान की खासियत यह थी, कि उसके पीछे दीवार में ताम्बे का एक हमाम चिना होता था, जिसे 'मटं' कहते थे। मटं में टूटी लगी होती थी। उसे पानी से भर देते थे, और दान जलाने पर उसमें सदा गर्म पानी रहता था, जो नहाने, या हाथ धोने, कपड़े धोने के काम आता था। सर्दियों के दिनों में वोट में ही रहना होता था। यहीं दिन भर बैठते थे। बाहर गिरती बर्फ के नजारे देखे जाते थे। वोटं की खिड़की में 'ड़ब मसाला' बारिमुठ की दाल को सूखे मसालेदार बना कर, खाया जाता था। यहीं कहवा, शीर चाय आदि भी परोसी जाती थी। सर्दी में जीवन, वोटं और रसोई तक ही सीमित था और मेहमान भी वहीं पर बैठाये जाते थे। जीवन भागा दौड़ी का नहीं था, ठहरा हुआ होता था। बांया वोटं, और दांयी तरफ का वोटं एक जैसा होता था। अगर परिवार बड़ा होता तो एक वोटं में पुरुष बैठते थे, और दूसरे वोटं में घर की औरतें। वे रसोई में काम भी करती थीं।

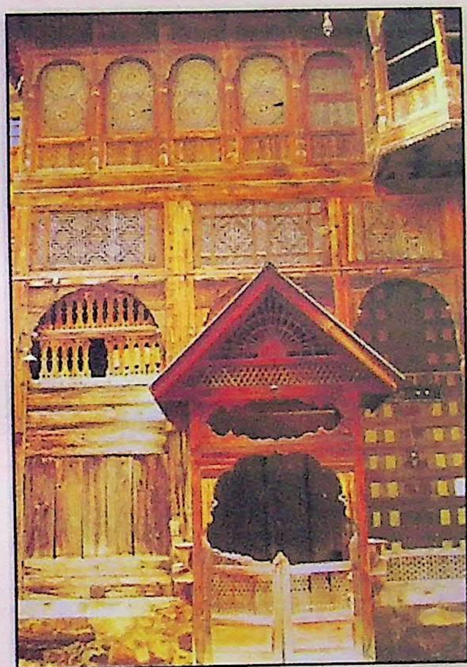
वोटं में हमेशा 'बगुव' चटाईयां बिछी रहती थी। जो लोग समृद्ध थे, वो उन 'वगुव' पर दरियां और उसके ऊपर मसनन्दे (बड़ी चादर जिस पर बेल बूटे छपे होते थे), बिछाते थे। दीवार के साथ–साथ गोल तकिये रखे होते थे, जिनसे जमीन पर बैठने में सुविधा होती थी। चप्पल, बूट, 'वुंज़' में ही निकाल दिये जाते थे। रसोई में या तो पुलहोर, (घास की चप्पल) या लकड़ी की खडांव पहनी जाती थी। क्योंकि सर्दियों में वोटं में बैठा जाता



बहुमंज़िला कश्मीरी मकान टावर



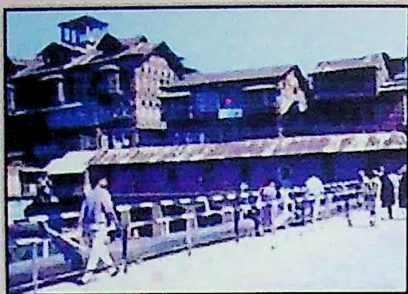
सफाकदल

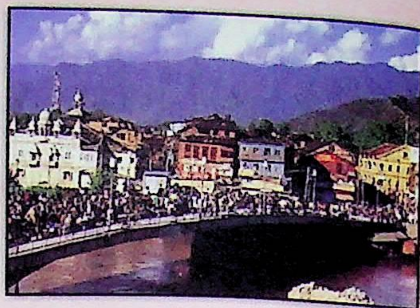


वैभवशाली लकड़ी का मकान



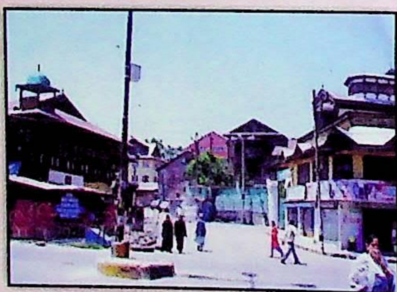
कश्मीर का बहुमंजिला मकान


कदल, कश्मीर के मकान, टावर

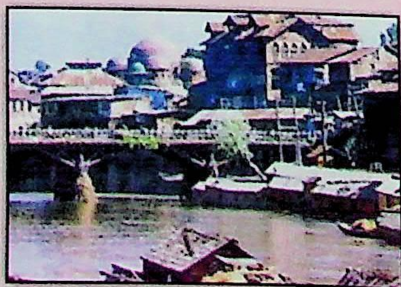

अमीरा कदल


मकान की खिड़की 'पंजरा'


बहुमंज़िला मकान डब


बहुमंजिले मकान टावर


टूरिस्ट रिसेप्शन सैंटर


सफा कदल


आधुनिक मकान

था, अतः वहां कांगड़ी, जिसमें कच्चे कोयले की राख और कच्चा कोयला डाल कर आग सेकने के लिए तैयार ही रखा जाता था। दो तीन कांगड़ियां तैयार रखते थे, तांकि प्रत्येक व्यक्ति एक–एक कांगडी ले सके। शाम को हुक्के में पानी भर कर, चिलम तैयार कर, के रखी जाती थी। जब भी पुरुष काम से घर लौटते तो उन्हें कांगड़ी, हुक्का, कहवा, देकर, उनकी आवभगत की जाती थी। गृहणियां सारा दिन काम में व्यस्त रहती थी।

दूसरी मंज़िल 'ठोकुर कुठे', 'बान कुठे ', 'कुठे'

घुमावदार, सीढ़ियों, वुंज से शुरु होती थी, दूसरी मंजिल पर ले जाती थी। सीढ़ी के सामने छोटा सा कमरा होता था जिसे 'ठोकुर कुठ़' कहा जाता था। 'ठोकुर कुठ़' में पूजा की जाती थी। यहीं पर शिवलिंग और अन्य देवी देवताओं की प्रतिमायें और फोटो आदि रखते थे। नीचे आसन बिछा होता था। इस 'ठोकुर कुठ़' की खिड़की आंगन में खुलती थी। यह छोटा सा कमरा पहली मंजिल के ठीक वुजं के ऊपर होता था।

दूसरी मंजिल पर 'ठोकुर कुठ' के बाईं और दाईं और कमरे होते थे जो घर के सदस्यों के नाम से पुकारे जाते थे। क्योंकि उन कमरों में वह सदस्य रहते थे। जैसे लालुन कुठ, (लाला जी का कमरा) 'बबुनं कुठे', (बब का कमरा), आदि। यह नाम उनके देहान्त के बाद भी पुकारा जाता था। जब तक अगली पीढ़ी, उस कमरे को अपना नहीं लेती थी। यह कमरे रात को सोने के लिए और दिन में आराम करने के काम आते थे। यहां पर नीचे 'वगुब' बिछा होता और उसके उपर दरियां और फिर कालीन बिछे होते थे। यह वहां की आर्थिक स्थिति के आधार पर होता था, कि कालीन, या मसनंन्द बिछा होता था।

इन दो कमरों के बाद एक कमरा कोने में होता था। जिसे 'बानंकुठ' यानि बर्तन रखने क़ा कमरा, जिसे हम आधुनिक भाषा में स्टोर कहेंगे। इस कमरे में बड़े–बड़े मिट्टी के बर्तन होत थे, जिन्हें 'मच़ि' कहते थे जिस में धान, चावल आदि खान पान की वस्तुएं आने वाले वर्ष के लिए सुरक्षित रखी जाती थी।

तीसरी मंज़िल 'बोड कुठे या बैठक'

यहां फिर घुमावदार सीढ़ी खुलती थी। यहां पर दायें और बाईं ओर बड़े–बड़े हालनुमा कमरे होते थे। जिनकी दीवारों पर बेलबूटों की नक्काशी

की होती थी। खिड़कियां सुन्दर होती थी, और महंगे कालीन बिछे होते थे, दीवार के साथ–साथ गोल तकिये रखते थे। यह मेहमानों का कमरा, बैठक या प्रीति भोज करने वाले कमरे होते थे। यहां पर कभी–कभी पूरा, संयुक्त परिवार इकट्ठा होकर सलाह मश्वरा करता था। घर के ब्याह शादी की छोटी–छोटी रसमें यहां जिनमें थोड़े अतिथि होते थे, जैसे सातंलिवुन, आदि जैसे कार्यक्रम किये जाते थे।

चौथी मंज़िल 'केनी, डब, शाहशीं'

चौथी मंजिल पर एक बड़ा हाल, जो एक छोर से दूसरी छोर तक होता था। इसे 'कंनी' कहते थे। इसके एक तरफ रसोई, जो बिना दरवाजे के होती थी। कंनी को लकड़ी के पारटीशन से विभाजित किया होता था। एक तरफ पानी के घड़े रखने के लिए स्टैंड, 'गरवंज्य' होते थे और दूसरी तरफ बर्तन रखने के लिए लकड़ी का एक फट्टा। मध्य में दरवाजे की चोकाट जिसे 'दास' कहते थे। यह बिल्कुल उसी तरह जैसे पहली मंजिल में 'वोट' में होता था। सामने 'दान' चूल्हा और कोने में 'होंज़' बर्तन धोने या पानी फेंकने की जगह होती थी। केनी में सबसे सुन्दर 'डब' होती थी। यह आंगन में खुलने वाली, लकड़ी की बालकनी होती थी। किसी घर में खुली हवादार होती और किसी घर में उसे लकड़ी के तख्तों से बन्द कर दिया जाता था। जिसे 'वरूसी' कहते थे। 'वरुसी' बिल्कुल साधारण या नकाशीदार 'जो' परिवार के वैभव और आर्थिक स्तर की निशानी होती थी। डब से बाहर नज़ारे देखने को मिलते थे। जो घर नदी किनारे होता था, वहां नदी का नज़ारा, आनन्दमयी होता था। मेरी दादी का घर नदी किनारे था। डब पर बैठ मैने नदी के अनगिनत दृश्य देखे होंगे जो आज तक मन पर खुदें हैं।

'केनी' के दूसरे छोर पर एक और पार्टीशन किया हुआ होता था, जिसे 'शाहशीं' कहते थे। यह घर के बड़े बुजुर्गों, और मेहमानों के लिए बनी होती थी। गर्मियों में 'कंनी' का इस्तेमाल होता था, तो परिवार 'केनी' में बैठता था। घर के बुजुर्ग 'शाहशीं' में बैठते थे। उन्हें वही खाना परोसा जाता था। वहीं 'जंजीर' (हुक्का) पहले से ही तैयार रखा जाता था। केनी, कच्ची मिट्टी की होती थी। वहां भी 'वगुव' बिछायें होते थे। औरतें वहां पर खाली समय में चरखा 'पशमीना' कातती और चावल बीना करती थी।

'सीढ़ी के चढ़ते ही बाईं ओर एक 'खोत'–एक छोटी सी गुफा जैसी जगह होती है, जिस में राख की देग या टीन, जिसमें कांगड़ी के लिए कच्चे कोयले का चूरा, रखा जाता था। 'खोत' के बाहर ही बर्तन मांजने की जगह होती थी। पानी की कमी के कारण राख से बर्तन मांजे जाते थे।

पांचवी मंज़िल 'ब्ररंर केनी'

पांचवी मंजिल केनी के ऊपर होती थी। इसे 'ब्ररर केनी' कहते थे। यहां पर घर का टूटा–फूटा सामान, जलाने की लकड़ी, जो वहां गर्मियों में रखी जाती थी और सारा सीज़न सूखती रहती थी।

छटी मंज़िल 'टावर'

कई घरों में और वैभव की निशानी टावर होता था। यह हवादार कमरा, इसमें खिड़कियां नहीं होती थी। घर में सबसे बड़े, आदरनीय व्यक्ति को वहीं सुलाया जाता था।

छत 'पश'

छतें ढलान वाली होती थी। तांकि उन पर बर्फ न ठहर जाये। ढलानदार छत से बर्फ फिसल कर नीचे गिर जाती थी। छतें तीन प्रकार की होती थीं। पहली 'भ्रुर्ज पश' जिस में भ्रुर्ज जो एक पेड़ की छाल बिछा कर, उस पर चीकनी मिट्टी डाल कर बनाते थे। यह प्रति वर्ष बनानी पड़ती थी। दूसरी तरह की छत लकड़ी के छोटे–छोटे तिकोने टुकड़ों को जोड़ कर बनाती थी। उसे सिंगल पश कहते थे, और तीसरी टीन की छत जो बड़ी टिकावदार होती थीं। टीन की छत, पैसे वाले लोग ही बनवा पाते थे।

गुसलखाना

नहाने के लिए गुसलखाना और पाखाना, सामूहिक तौर पर प्रयोग किया जाता था, जो आंगन के एक कोने में होता था। सीढ़ी के नीचे भी एक गुसलखाना बनाया होता था जो सर्दियों में काम आता था। वहां 'वोट' के 'दान' के साथ लगा हमाम भी होता था। जिसमें सदा पानी गर्म रहता था। घरों में गन्दे पानी और कूड़े के निकास के लिए कोई साधन नहीं था। अतः

घर का कूड़ा कर्कट, गन्दा पानी, खिड़की से बाहर गली में फेंका जाता था। यह हमारे समाज की कुरीति थी। ऊपर से पानी फेंकते समय, 'होश' करके आवाज़ दी जाती थी, तांकि गली में चलने वाला सावधान हो जाये। कभी–कभी वह भीग भी जाता था, तो फिर झगड़ा हो जाता।

पड़ोसियों से अच्छा तालमेल होता था। सब्जियों और तैयार खाने का अदान–प्रदान होता था। उसके लिये कंनी से दूसरे के मकान में एक रस्सी बंधी होती थी। जिसमें टोकरी या कांगड़ी का खोल बाँध कर रखते थे, जिसे आर पार खेंचा जा सकता था, उसमें एक दूसरे से चीज़ों का आदान–प्रदान होता था। घर में नल आंगन में होता था। नल वाली जगह पर 'होदी' बनी होती थी, जो कपड़े धोने के काम आती थी। इसी नल से घड़ों में पानी भर कर 'वोट' में या चौथी मंजिल पर पानी चढ़ाया जाता था। यह पानी चढ़ाने का काम घर की औरतें करती थी। सरमायेदारों के पास नौकर होते थे वे सुबह–सुबह पानी भरते थे।

दीवारें

सारा मकान कच्ची मिट्टी और छोटी इंटों का बना होता था। उसे चीकनी मिट्टी में धान का छिलका डाल कर, जिससे चीकनी मिट्टी में पकड़ आती थी, दीवारों पर लगाया जाता था। इसे 'बोर लदुन' कहा जाता था। उसके ऊपर, प्रतिवर्ष चीकनी मिट्टी, से लीपा जाता था। यह काम प्रायः गृहणियां किया करती थीं। समय के बदलाव को साथ–साथ कामकाजी गृहणियां महिलाएं होने के कारण 'बोर लदुन' और 'बोर लदुन' और 'लिवुन' यानि लीपने का काम भाड़े के मज़दूर करने लगे थे।

खिड़कियां

खिड़कियां विशेष प्रकार की होती थी, डबले पताम दोहरे पल्ले वाली। बाहर की तरफ लकड़ी की थी, जालीनुमा पंजरा होता था। फिर अन्दर बन्द की तरफ खिड़की का बन्ध करने वाला दरवाजा, जिस में संगल जैसी कुंडी लगी होती थी। 'पंजरे' के पल्ले को बन्द करने से रोशनी अन्दर आती थी। परन्तु अगर मक्खियां तंग करें और सर्दियां आने से पहले पंजरे के ऊपर सफेद कागज़ लगा देते थे। जिस में से रौशनी तो आती थी, परन्तु मक्खी मच्छर अन्दर नहीं आता था। पंजरे से घर में परदा रहता था और हवा, रोशनी भी आती थी।

बाहर की दीवार

बाहर की दीवार, बड़े–बड़े पत्थरों की होती थी। यह दीवार मिट्टी, गारे से चिनी होती थी। इस पर पलस्तर नहीं होता था। दीवार की भी छत 'भ्रुज' पश, की बनी होती थी, जिस से बर्फ स्वंय ही गिर फिसल कर नीचे गिरती जाती थी। इसकी मिट्टी भी प्रतिवर्ष बदली जाती थी।

खाना बनाने के लिए आग जलाने की विधियां

श्रीनगर में बचपन व्यतीत करने के कारण, मैने पल–पल, बदलाव देखे। खाना बनाने के लिये आग जलाने के लिये 'दान' लकड़ी जलाने का चूल्हा से गैस के चूल्हे तक का सफर मैने देखा था, और समझा था। चाहे यह परिवर्तन पूरे भारत वर्ष में आया, परन्तु मैं यहां अपने कश्मीर का वर्णन कर रही हूँ।

दान लकड़ी जलाने वाला चूल्हा

आग जलाने की एक प्रथम विधी थी, यानि लकड़ी जलाने का चूल्हा। यह प्रत्येक रसोई में होता था। 'वोट' सबसे निचली मंज़िल, की रसोई और 'केनी' सबसे ऊपर की मंज़िल, की रसोई में दान पहले से ही बने होते थे। दान कई प्रकार के थे। संयुक्त परिवार होने की कारण परिवार बड़े होते थे, खाना काफी मात्रा में बनता था। गृहणियां एक बार में ही तीन–तीन पदार्थ बनाती थी, अंतः बड़ा 'दान' तीन चूल्हे वाला होता था। जिसमें लकड़ी 'जियुन' जलाने से तीन प्रकार के पदार्थ एक साथ बन सकते हैं। यह दान आम तौर पर सुबह–सुबह जलता था, तो लगभग सारा दिन ही जलता रहता था। जब काम खत्म हो जाता था तो लकड़ी को सुलगने के लिए छोड़ दिया जाता, तांकि जब जरूरत पड़े, तो उसे शीघ्र जलती आग की लपटों में परिवर्तन किया जा सके। 'जियुन' की एक लकड़ी को 'जियुन हट' कहते थे, ओर बहुत सी जियन हचि को 'जियुनखनं'। चूल्हे में लकड़ी के साथ गाय का सूखा गोबर भी प्रयोग होता था, जो आग जलाने में सहायता करता था। जब काम खत्म हो जाता था, तो पानी के छींटे दे कर लकड़ी की आग को बुझा दिया जाता था, और अधजली लकड़ी अगले दिन

दुबारा इस्तेमाल की जाती थी। लकड़ी के अधजले कोयले अलग प्रयोग में आते थे। लकड़ी के कोयले को कांगड़ी में और हाकोल जलाने के काम आते थे। राख अलग एक देगची में इकट्ठी की जाती थी। जो 'दान' के कोने में पड़ी रहती थी। और राख बर्तन मांजने के काम आती थी। पानी की कमी होने के कारण सारे बर्तन राख से मांझे जाते थे उसे 'होख मांज' कहते थे। पानी की कमी घर में सरकारी पानी आने के बाद कुछ कम हुई।

'दुकचोर' दो चूल्हे वाला चूल्हा

बड़े दान के साथ ही 'दुकंचोर' होता था जो दो चूल्हे वाला होता था। यह मध्यम परिवार में इस्तेमाल होता था, और जब कम खाना बनाना होता था तो प्रयोग में आता था। इस में एक समय में दो बर्तन रखकर दो पकवान बन सकते थे।

ओकच़ोर

यह एक छोटा सा चुल्हा, उन्हीं दोनों चूल्हों के पास रखा होता था। कई रसोईयों में यह दान के एक तरफ में बना होता था और कुछ घरों में यह उठाने वाला चूल्हा होता था। इसे उठा कर कहीं पर भी लेगा, जलाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था। जलाने की विधि वही थी, गाय का सूखा गोबर और 'जियुनहट' यानि जलाने की लकड़ी।

'हाहकोल'-फूंक मार कर जलाने वाला चूल्हा

यह एक प्यारा सा छोटा सा चूल्हा होता था। यह भी कहीं भी उठा कर रख सकते थे। इसके मध्य में लोहे की जालीनुमा सीखें लगी होती थी। जिन पर लकड़ी के कोयले डाले जाते थे। लकड़ी के कोयले से भरा हाहकोल, सदा तैयार ही रहता था। इसमें आग जलाई जाती थी, और एक लम्बी सी लोहे की पाईप 'धौंकनी' से, फूंक–फूंक कर लकड़ी के कोयलों की आग को तेज़ किया जाता था। जब लपटें आने लगती तो उस पर बर्तन रख दिया जाता था। क्योंकि इसे फूंक मार–मार कर जलाते थे, तभी इसे 'हाहकोल' कहते थे। इसमें लकड़ी के कच्चे कोयले प्रयोग में आते थे। आम तौर पर यह कोयले घर के चूल्हे में से ही निकालते थे। कोयलों की राख से अलग करके एक 'मेट' (मिट्टी का बड़ा सा बर्तन) इकट्ठा करते

थे। 'हाहकोल' आम तौर पर चाय बनाने के काम आता था। शाम की चाय, शीर चाय, मेहमान के आने पर कोई भी चाय 'हाहकोल' पर ही बनती थी। शाम को इस पर सब्जियाँ भी गर्म की जाती थी।

कॅश दमचूलुॅ-बुरादे से जलने वाला चूल्हा

लकड़ी के बुरादे का चूल्हा होता था। यह एक लोहे का बाल्टी नुमा बर्तन में बना होता था। बाल्टी के निचले हिस्से में एक बड़ी सी मोरी होती थी, जहां से हवा जाती थी और एक दो छोटी लकड़ियां जलाई जाती थी। मध्य में एक गोलाकार पाईप रख कर इसके चारों ओर लकड़ी का बुरादा, ठूस ठूस कर भरा जाता था। बुरादा जितना ठूस कर भरा होता था, उतना ही वह देर तक टिका रहता था। आग धीरे–धीरे सुलगती रहती थी और चुल्हा देर तक जलता था। इस पाईप को मध्य में से निकाल देते थे, तो नीचे से जहां से एक मोरी होती थी, उसमें छोटी–सी लकड़ी को आग लगा कर बीच में डाल देते थे। लकड़ी का बुरादा आग पकड़ लेता था, तो धीरे–धीरे सुलगने लगता था। जब लपटें होने लगती थी तो उसमें फिर हल्का फुल्का खाना, परोंठा, चाय आदि बनाया जाता था। कशॅदमचॅूलु कई घंटों जलता रहता था।

प्रायः घरों में यह प्रथा थी कि सुबह दान जलाकर सुबह शाम दोनों समय के लिए सब्जियों और सुबह के चावल बना दिये जाते थे। शाम को केवल चावल बनते थे और चाय आदि का काम कश्दमचूलुॅ या ओकचोर पर किया जाता था। दान को जला लेने के बाद ठंडा हो जाने पर उसे लीपा जाता था। जिसे दान 'बढावुन' कहते थे। दान को भुझाना कभी नहीं कहते थे, क्योंकि यह अपशगुन माना जाता था। किसी भी घर के व्यक्ति का देहान्त हो जाने के बाद, घर में चूल्हा नहीं जलता था, और जलता चूल्हा बुझा दिया जाता था। अतः कभी दान को बुझाना नहीं कहते थे, दान 'बडावुन–कहते थे।

इस्तेमाल करने के बाद 'हाकोल', 'ओकचोर', 'दुकचोर', सब लीप दिये जाते थे, और कंश दम चूलुॅ की राख निकाल कर ठंडा हो जाने के बाद, अगले दिन सुबह के लिए तैयार किया जाता था।

धीरे–धीरे समय बदलता रहा और रसोई में मिट्टी का तेल प्रयोग में आने लगा, उस तेल के साथ स्टोव, पहले बत्तियों वाला, फिर पम्प वाला,

और आजकल गैस का चूल्हा प्रत्येक शहर में प्रचलित हो चुका था। स्टोव और गैस के चूल्हे के कारण, 'दान' की परम्परा आम तौर पर खत्म हो गई थी। गृहणियां भी कामकाजी महिलायें बन गई थीं, अतः वे भी जल्दी खाना बनाना चाहती थी, अतः दान आम तौर पर लुप्त ही हो गया था।

दान का एक और लाभ था। दान का मेल आगे ताम्बे की एक बड़े हमाम के साथ होता था। वह हमाम सीढ़ी के नीचे रसोई के बाहर की ओर एक गुसलखाने की दीवार में चिनवाया होता था। जब भी दान जलता था, या घर में नहाने के लिये गर्म पानी की आवश्यकता होती थी, तो दान जलाकर हमाम में पानी गर्म किया जाता था। हमाम को 'मचं' कहते थे। यह 'मचं' समृद्ध घरों में ही होती थी।

'वारिदानस प्यवुन'

विवाह के बाद दुल्हा दुल्हन जब घर में प्रवेश करते थे तो उन्हें सीधा रसोई में ले जाते थे। जहां वे गृह देवता का प्रणाम करते थे और उन्हें 'दान' चूल्हे पर बिठा कर खाना खिलाते थे। शायद यह परम्परागत ढंग से दुल्हन को रसोई में दाखिल होने का अधिकार दिया जाता था।

बुरे, लम्बा चूल्हा

सामूहिक भोज के अवसर पर जैसे शादी, मेखला, हवन, आदि के समय खाना बनाने के लिए एक प्रकार का दान बनाया जाता था। जिन्हे बुरं कहते थे। यह दो समान्तर ईटों की छोटी सी दीवारें बनाई जाती थी। जो डेड फुट ऊँची होती थी। अगली दीवार में से पांच छे मोरियां होती थी, जिन के बीच से जलाने की लकड़ी 'जियुनहटं' डालते थे और दोनों दीवारों के बीच में भी लकड़ियां–जियुनहटं डालकर रखते थे, और सूखे गोबर में आग जलाते थे। गोबर की आग से जियुनहटं में आग जल्दी जलती थी, और जब लपटें निकलने लगती थी, उन पर एक लाईन में आठ या दस 'देंगे' रखते थे। 'देंग' पक्की मिट्टी के घड़ेनुमा बर्तन होते थे, जिन में खाना बनता था। बावर्ची 'वाज़ा' जो अपनी पूरी टीम के साथ लगा होता था, बुरं पर एक साथ कई पकवान बनाता था। देंगों को इस्तेमाल के बाद, फेंक दिया जाता था। अतः 'वुरि पेवुन' यानि 'बुरं जलाना', गरिमा का शब्द होता था, क्योंकि सामूहिक भोज वही करता था जिसमें सामर्थ्य. होती थी। जो

समृद्ध होता था। वुरं को जलाने के बाद बावर्ची पीले चावल 'तंहर' बनाता था और सबको बाँटता था। यह एक शगून होता था।

जलाने की लकड़ी को सम्भालना

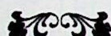
यह भी एक कला थी। जलाने की लकड़ी, जब घरों तक पहुँचती थी, तो आगन में रख दी जाती थी। उसे चिन कर रखने की अपनी ही विधि थी। एक के ऊपर एक लकड़ी रखते थे। यह चौरस सा ढेर बन जाता था। एक जलाने वाली लकड़ी के ढेर को 'जियुन खोन' कहते थे। इन लकड़ियों को धीरे–धीरे चौथी मंजिल, यानि 'कंनी' के ऊपर 'ब्ररिरे कंनी' पर रखते थे। यह काम गर्मियों में किया जाता था। यह लकड़ी वहां सूखती रहती थी। सर्दियों में जब बाहर बर्फ पड़ी होती थी, तो वहीं से लकड़ी उतार कर प्रयोग की जाती थी।

जल निकास विधि (ड्रेनेज़ सिस्टम)

श्रीनगर में सभ्यता का विकास होने के बावजूद भी जल निकास (ड्रेनेज सिस्टम) में कोई सुधार नहीं आया। नदी को 'व्यंथ' भी कहते थे। वह सबका भार ढोती थी। घर में मल मूत्र व नहाने, कपड़े धोने का पानी, रसोई से इस्तेमाल किया पानी, बाहर गली की नाली में आ जाता था, जो मकानों के साथ–साथ बहती थी। यह नालियां सारे मुहल्ले के मकानों की नालियों में मिल कर एक बड़ी नाली बनाती थी, जो सीधा जाकर जेहलम नदी में गिरती थी। शहर चूँकि जेहलम नदी के साथ–साथ दोनों ओर बसा हुआ था, अतः यह नालियां, घूम फिर कर नदी में ही जा गिरती थी। पंडित लोगों का वर्ग उच्च वर्ग माना जाता था। उन्होंने कभी भी निम्न वर्ग का काम नहीं किया, गलियां साफ करना, पाखाना उठाना, कूड़ा–ककर्ट उठाना, यह सब कुछ मजदूर लोग या निम्न वर्ग के दूसरे लोग करते थे। यह उनकी जीविका का आधार होता था। परन्तु पंडित लोग अपने आप को इस वर्ग और दूसरे धर्म के लोगों से उसे ऊँचा समझते थे इस के कारण, इनमें खटपट रहती थी। सफाई सेवक को 'वातुल' कहते थे। वह कभी भी समय पर नहीं आता। अपनी मनमानी करता था। अतः घर के लोगों ने गुसलखाने में बड़ी सी बाल्टी रखी होती थी जिससे पानी भर कर पाखाने को खुद ही नाली में बहा दिया जाता था, और वह बाहर नाली में बह–बह कर स्वयं ही

नदी की धारा में सम्मिलित हो जाता था। सड़कों की नालियों को सरकारी सफाई सेवक साफ करते थे। वे भी कूड़े ककर्ट को झाडू से आगे धकेलते थे। यह सब कुछ हमारे जीवन काल में ऐसा ही चलता रहा। नालियां खुली ड्रेन की तरह होती थी। पास से चलने से बदबू आती थी। मुँह ढाँप कर चलना पड़ता था। अतः यह समय की विडम्बना थी कि हमारे रहन–सहन में इस बात का सुधार न आ सका। 1990 के बाद अपने शहर जाना नहीं हुआ। इस बार जब मैं गई स्क्योरिटी के कारण शहर की उन गलियों में न जा पाई। अतः यह जान नहीं पाई कि सरकार ने इसके बारे में कोई ठोस कदम उठाया कि नहीं। शायद हमारी 'व्यंथ' सारे शहर की गन्दगी अभी भी धो रही होगी।

नये बड़े–बड़े मकान शहर के बाहर बने। ब्रजुला, ऐयरपोर्ट रोड, कारण नगर आदि जैसे मुहल्लों से नदी दूर थी, अतः आधुनिक टेक्नोलजी आ गई थी। घरों में पाखने में अंग्रेजी सीटें लगी और उनके साथ फलश सिस्टम लगा, जो जाकर सेपटिक टैंक में खुलता था। घर का गन्दा पानी वहां भी गली की नालियों में ही जाता था।



सड़कें गलियां और बाजार

श्रीनगर शहर में सड़कों और गलियों का मिश्रण था। शहर नदी के दोनों ओर था, पुल से आर पार जाना होता था। पुल नदी के ऊपर चौड़ी सड़क की तरह था। प्रत्येक पुल दोनों तरफ एक चौंक में खुलता था। पुल पर बड़े वाहन चल सकते थे, जैसे कार, मेटाडोर, टैम्पू, ऑटो आदि। पुल पार करने के बाद यह सड़क चौंक से थोड़ा और आगे जाकर 'पोत' बाज़र', यानी एक चौड़ी सड़क में खुलता था। वह चौड़ी सड़क भी ऑटो, टैम्पू, कार जाने आने के लायक होती थी। 'पोत बाज़र' नदी के सामान्तर होता था जो अमीरा–कदल से नीचे सफा–कदल तक चलता जाता था। वाहन नदी के दोनों तरफ इन्हीं सड़कों पर चलते थे। पोत बाज़र से नदी तक, दोनों तरफ संकरी गलियां थी। गलियों के किनारे पर मकान बने हुए थे। यह घुमावदार गलियां हर प्रकार से आपस में मिलती थी। यह केवल पैदल का रास्ता था। अतः लोगों को आवाजाही के लिए पैदल चलने की बहुत आदत थी।

'पोत बाज़र' को बाज़ार कहा जाता था क्योंकि यहां पर ही हमारी जरूरत की सब चीज़ें उपलब्ध होती थी। यहीं राशन बेचने वाला 'बुहिर', ग्वाला, दर्जी, नानबाई, सब्जी की दुकानें और कपड़ा बेचने की दुकाने; सब रोजमर्रा की चीज़ें बेचने वाले उसी बाजार में होते थे।

बाज़ार

बड़े–बड़े बाज़ार, जहां पर काश्मीर की पारम्परिक चीजें, जैसे शाल, पशमीना, कश्मीरी कढाई की वस्तुएं, शिल्पकला, वास्तुकला की चीज़ें और बाकी रोजमर्रा के प्रयोग होने वाली वस्तुओं के लिए रैज़ीडैन्सी रोड, अमीरा कदल, लाल चौंक जैसे बहु चर्चित बाज़ार थे। यह बाज़ार टूरिस्टों के आकर्षण के केन्द्र भी थे। पोलो ग्राऊण्ड के पास ऊँचे–ऊँचे पोपूलर के पेड़ और रेज़ीडैंसी रोड़ की गहमा–गहमी अपने में आकर्षण का केन्द्र थे।

रेज़ीडैंसी रोड़ के समान्तर 'बंड' पर भी एक मार्किट हुआ करती थी, जो नदी की धारा के किनारे थी। एक तरफ बड़ी–बड़ी दुकानें और दूसरी तरफ नदी उसका बहता पानी और उसमें हाऊस बोट और डोंगे दूसरे पार पोपुलर के पेड़ों के कतारें, यह सब दश्ेय अपनी ही गरिमा रखते थे। कश्मीरी ऑर्ट की बहुत सी दुकानें, कश्मीरी कला के नमूने शोकेस में सजायें होते थे। जो पर्यटकों के आकषेण का केन्द्र थी। पूरे संसार से आये विभिन्न वर्गों के लोग, विभिन्न पहरावे में, वहीं चलते फिरते, खरीदारी करते नज़र आते थे।

बड़े–बड़े सिनेमा घर इसी लाइन में थे। लोग सिनेमा के शौकीन होते थे। लड़कियां, औरतें दोपहर के शो में जाया करती थी, परन्तु सिनेमा घरों के जल जाने से यह मनोरंजन का साधन पूणर्तया समाप्त हो गया।

लाल चौंक एक बहुचर्चित जगह थी। यह व्यापार का मुख्य केन्द्र था। यहीं पर सब हादसे भी होते हैं। मयसूमां बाजार थोक व्यापार का बाज़ार था। पोस्ट ऑफिस, टेलीग्रॉफ ऑफिस, बैंक सब कुछ लाल चौंक से रेजीड़ैंसी रोड़ पर थे। अतः यह श्रीनगर शहर का दिल था।

शहर में प्रत्येक 'कदल' पुल के पास अपने अलग बाज़ार थे। उस जगह के आसपास के लोगों की सुख–सुविधा के लिए बने थे। इसमें हब्बा कदल बाजार, जो एक तरफ नई सड़क से होता हुआ मयस्मां बाज़ार में खुलता था, और दूसरी तरफ, चीक्राल मुहल्ला, बाना मुहल्ला आदि के साथ–साथ नीचे सफा कदल तक जाता था। इस बाज़ार में कपड़ा, कश्मीरी आर्ट, खान पान, हलवाई 'नदिरमोंज' (कमल ककड़ी के पकौड़े) बेचने वाला और मोंठ (भूने हुए सूखे मटर) बेचने वाले, सब्जी वाले, फलों की दुकानें, रेडीमेड कपड़े, ऊन बेचने वाले, फोटोग्राफर और पंसारी की दुकानें होती थी। यह शहर का सबसे बड़ा व्यापारिक स्थान था। यहां सदा ट्रेफिक जाम रहा करता था। टांगे, ऑटो, मेटाडोर, मिनी बस और पैदल चलते लोगों का जमावड़ा होता था। मन्दिर, मस्जिद, स्कूल सब हब्बा कदल बाजार के आस–पास ही थे। एक तरफ मंदिर की घंटियाँ और दूसरी ओर मुल्ला की बांग सुनाई देती। अतः हब्बा कदल हमारी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सभ्यता का सांझा क्षेत्र था।

टूरिस्ट रिसेपशन सैन्टर

यह एक आधुनिक सैन्टर था। यहां टूरिस्टों के लिए सब सुविधाऐं उपलब्ध थी। यहां पर टूरिज़म से सम्बन्धित सब सूचनाएँ मिलती थीं। यहीं पर पर्यटकों के लिए गाईड और बूकिंग ऑफिस थे। होटल, हाऊसबोट, हवाई जहाज बुकिंग सब के दफ्तर थे। यहीं खान–पान की जगह भी थी। मछली पकड़ने के लाइसैन्स देने वाला फिशरी विभाग भी था। टूरिस्ट रिसैपशन सेन्टर के बाहर ही जे. एण्ड के. परिवहन कारपोंशन (जे. एण्ड के. अैस. आर. टी. सी.) का दफ्तर भी था, जहां पर दूर की या पास की यात्रा की बसों की टिकटों की बुकिंग भी होती थी। यहां पर बैंक की सुविधा भी उपलब्ध थी, जो बाहर के देशों की करंसी को बदलने में सहायता करती थी। यह भी आतंकवाद के हथ्थे चढ़ गया।

ऐग्जीबिशन सेन्टर

यहां श्रीनगर का आर्ट एवं क्राफ्ट और काश्मीरी आर्ट का सबसे बड़ा सैन्टर था। यह बड़शाह कदल को पार करके, हरी सिंह हाई स्ट्रीट के पास बड़ा शापिंग सेन्टर था। यह चकोर बाज़ार था। चारों ओर से असंख्य दुकानें थी। मध्य में बगीचा था जहां पर्यटक लोग बैठते थे और सुस्ता सकते थे। इन मकानों में लाखों रुपयों के सामान सजे होते थे। दुकानों के बाहर शो केस में, हम काश्मीरी कला के नमूने देख सकते थे। यह जगह काश्मीर की सभी उपलब्धियों का सेन्टर था। बीच में ही खान–पान की दुकानें भी थी। बाहर सैंकड़ों गाड़ियों की पार्किंग की जगह, बच्चों के लिए झूले और जोय राईडस भी थे। यहां पर पर्यटकों का मेला लगा रहता था। आज यह आतंकवाद के कारण जल कर राख हो चुका है।



जेहलम नदी, कदल, यातायात के साधन

जेहलम नदी

जेहलम नदी से मुझे बहुत प्यार था। मेरी दादी का घर जेहलम नदी के किनारे पर था। जेहलम वेरी नाग चश्मे से निकलती है। श्रीनगर शहर के मध्य में बहती हुई यह बारामुल्ला और उरी से निकल कर पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में चली जाती है। जेहलम नदी को 'वितस्तां' और 'वेथ्य' भी कहते हैं। जेहलम नदी 600 किलोमीटर कश्मीर में बहती है और फिर चिनाब में जाकर मिलती है।

जेहलम नदी के दोनों ओर श्रीनगर शहर बसा हुआ है। इस पर नौ 'कदल' पुल बने हुए हैं और इन कदलों के सामान्तर नये कदल बनाये हैं अतः पुराने कदल भी अभी वहीं हैं, जो पैदल जाने वालों के इस्तेमाल में आते हैं।

जेहलम के कई गुण थे। यह यहां के लोगों का आधार था। नदी ही एक ऐसा साधन था जिसमें नाव, डोंगा चलता था और जो आवाजाही का साधन था। नाव का नाविक सबको इस पार से उस पार ले जाता था। मेरे घाट पर मलमहमूद नविक होता था। जो पहले एक पैसा, फिर दो पैसा, और फिर आधा आना, और बाद में रुपया लेकर हमें नदी–पार कराता था। नाव मे बैठे–बैठे हम, बहता पानी, दूर हब्बा कदल, सामने से निकलते मकान, जो हमारी नाव के चलते–चलते पीछे छूट जाते थे उन्हें देखते रहते थे और हम पार जा पहुँचते थे। मैं नाव में बैठी हमेशा नदी के पानी को अंजलि में भरती थी और फिर पकड़ कर उसे वापिस बहा देती थी। यह मेरी प्रिय यादें हैं।

जेहलम नदी में डोंगे चला करते थे। यह साधारण किश्तीनुमा घर थे। हम सब इसमें खीर भवानी जाते। जेहलम नदी आगे जाकर सिन्धु नदी में

मिलती है। अतः सारा रास्ता नदी में तय हो जाता था। डोंगे में बैठ कर सारा परिवार जाता था। बना हुआ खाना साथ ले जाते थे। इसमें रसोई भी होती थी। जिसमें घर की औरतें खाना भी बना सकती थी। डोंगे में बैठे बिठाये हमें, मां 'खेलवथर' पर (कमल के पत्तों) पर खाना परोस्ती थी। फिर कहवा समावार में बनाया करती थी, और शीर चाय सबको मिलती थी। यह डोंगा चौबीस घंटों में खीर भवानी पहुँचता था। यह यात्रा बहुत ही यादगार और सुखद होती।

नदी के किनारे अपने कमरे में बैठे सुबह, शाम इसके दृश्य, बहुत सुन्दर लगते थे। रात के समय, बिजली के बल्बों का प्रतिबिम्ब बहती लहरों पर पड़ता था तो उन्हें देख बड़ा आनन्द आता था।

सुबह–सुबह नदी के घाट पर पंडित लोग नहाने आते थे। उन्होंने 'योन्या' जनेऊ पहना होता था। स्नान करते समय मन्त्रोउचारण करते थे। सूर्य को अर्ग देते थे और पित्रों का तर्पण करते थे। वे सब दृश्य मेरे मनसपटल पर खुदे हुए हैं।

नदी मे बाड़ अक्सर आ जाती थी। पानी का स्तर बहुत बड़ जाता। घाट पर केवल एक दो ही सीढ़ियाँ रह जाती। आर–पार की आवाजाही बन्द हो जाती। नदी पूरे उफान में होती थी, परन्तु मकान इस प्रकार से बने होते थे कि उनके अन्दर कभी पानी नहीं जाता। कुछ देर के बाद पानी का स्तर उतर जाता था।

जंगलों से लकड़ी काट कर आरे तक पहुँचाने का काम भी, नदी करती थी। इन स्वता लठों पर नाम गोद कर, नदी में बहा दिया जाता। यह गोल लम्बी लकड़ी की लठें बहते दूर आरे तक पहुँच जाती और आरे वाले उन्हें तट से पकड़ लेते। कभी–कभी उन लठों पर कोई कौवा, या मैना, बैठ कर नौका विहार किया करते। मैं इस दृश्य को खिड़की से निहारा करती।

महाराजा का जलूस नदी में से चलता था। नदी के आर–पार रंगीन कपड़ों की झंड़ियों से सजाया जाता था। जिन्हें "डेडी" कहते थे। नदी दुल्हन की तरह सज जाती थी। लोग अपने घरों की खिड़कियों से महराजा के जलूस का नज़ारा देखते। महाराजा का जलूस एक बड़ी सी नाव फूलों और झाड़ियों से सजी होती थी। लोग महाराजा का हाथ हिला कर अभिनन्दन करते और महाराजा वापिस हाथ हिला उनके अभिनन्दन का उत्तर देते ! उनकी नाव के पीछे दर्जनों नावें होती, जो उस जलूस के

साथ–साथ चलती थी। समय के धूली के साथ–साथ नदी में जलूस समाप्त हो गये हैं

नदी के किनारे डोगे खड़े होते थे। उनमें मल्लाह रहते थे। यह लोग पहले डोंगे में लोगों को इधर से उधर ले जाने से जीविका अर्जित करते थे अतः अब डोंगा आवाजाही का साधन नहीं रहा, क्योंकि लोगों की रफ्तार बहुत बढ़ गई थी और डोंगा धीरे–धीरे चलता था। मल्लाह लोग अब और साधनों से अपनी जीविका कमाते हैं। डोगे में रहने वालों को 'हंज़' कहते थे। यह लोग आपस में बहुत लड़ते–झगड़ते रहते थे। उसे 'हंजबापार' कहते थे। न खत्म होने वाली बहस। फिर जब वे रात को लड़–झगड़ कर थक जाते थे। टोकरी को उल्टा रख दिया जाता था और उसका मतलब था, कि लड़ाई को हमने टोकरी के नीचे रख दिया है, अतः 'फतिस तल थवुन'। फिर सुबह उठ कर टोकरी सीधी कर के आपसी लड़ाई फिर शुरु हो जाता।

नदी के किनारे 'तील अष्टमी' के दिन कांगड़ी के खोल 'कांगरि खोर' को रस्सी से बांध, जलाया जाता था। उसे अपने चारों ओर घुमाया जाता था। उसे जतूं तूं कहते थे। इस जलाने की विधि में घर के पुराने 'वगुव' (चटाई), कपड़े आदि जला दिये जाते थे। मुझे यह दृश्य नदी पार अपने घर की खिड़की से दिखते थे। यह एक खेल होता था। यह सर्दी को विदाई देने का अवसर होता था।

मंदिरों के घाटों को पवित्र माना जाता था। गणपतयार, रघुनाथ मन्दिर, सूमयार आदि यह मन्दिरों के घाट होते थे। नदी किनारे यह घाट बहुत चर्चित घाट थे। आस–पास के लोग इन घाटों पर नहा कर, उसी घाट पर पूजा अर्चना करते थे, और फिर उसी मन्दिर में सामूहिक आरती करते थे। जेहलम नदी के किनारे संध्या बहुत अच्छी लगती थी। पक्षी चहचहाते। दिन भर के थके हुए पक्षी अपने घोंसलों में जाने की तैयारी करते। मेरी दादी संध्या दीप जलाती, नदी ओर भगवान को प्रणाम करती थी।

नदी आवाजाही के साथ–साथ, राशन, सब्जियां आदि बेचने का भी साधन थी। किश्ती में सरकारी राशन आता। आस–पास के लोगों के राशन कार्ड बने होते थे जिसे 'चेन्ध' कहते थे। उसे लेकर वे घाट पर जाते थे और अपना सरकारी राशन लेते थे।

हाख़, गाठगोभी, नदरू, मछली, आदि सब सब्जियां बेचने वाले भी घाट पर आते थे। वे वहीं किश्ती खड़ी करते थे और आस–पास के लोग वहीं आकर, अपनी जरूरत की सब्जी खरीदते थे। उन दिनों चावल की धान कनं और चावल के टुकड़े, 'टोटा' चावल 'सियुर' भी बेचा जाता था। गृहणियां चावल को साफ करते समय, टोटा चावल 'सियुर' अलग करती थी, और धान (कनं) भी अलग करती थी। महीने भर में वह एक दो सेर हो जाते थे तो उसे इन नविकों को बेचकर सब्जी खरीदती थी। मुझे 'व्ययबदि' बड़े अच्छे लगते थे दादी उन्हें 'सियुर' के बदले में लिया करती थी। यह बेचने भी नाविक वहां घाट पर आया करते थे। यह एक प्रकार की सब्जी होती थी जिसे छील कर कच्चा खाते थे।

हमारी नदी साफ नहीं रहती थी। शहर भर की नालियां उसमें ही खुलती थी। अतः सारा कचरा, गन्दा पानी उसी जेहलम में जाता था। इस प्रकार उसकी गरिमा कम हो जाती।

'कदल' पुल

जेहलम नदी श्रीनगर के मध्य में बहती है। पुराना शहर नदी के दोनों ओर बसा हुआ है। यहां पर जीवन धीमी गति से चलता था। कुछ ठहरा हुआ होता था। लोगों को नदी के इस पार और उस पार जाने के लिए किश्ती का सहारा लेना पड़ता था। परन्तु सामुहिक रूप से जाने के लिये पुल बने हुए थे, जिन्हें कदल कहते थे।

ये पुल ब्रिटिश सरकार के समय से बने हुए हैं। यहां नौं पुल हैं, और पहले पुल का नाम अमीरा कदल, फिर हब्बा कदल, फतेह कदल, ज़ैना कदल, अली कदल, नवां कदल, सफा कदल फिर बढ़शाह कदल और अन्त में ज़ीरो कदल।

मुझे याद है, जब ज़ीरो कदल बना और फिर बढशाह कदल, लोगों की आबादी और आने जाने के साधनों के बढ़ जाने के कारण, इन दोनों पुलों की आवश्यकता पड़ गई थी। अमीरा कदल यहां से लाल चौंक और उधर से हरी सिंह हाई स्ट्रीट को मिलाता था, तो यहां सदा ट्रेफिक जाम ही रहता था। अतः बढ़शाह कदल और ज़ीरो कदल ने इनका कुछ बोझ उठाया। बड़े वाहन जैसे कारें, ट्रक, आदि बढ़शाह कदल से आने जाने लगे।

यह कदल पुराने हो गये थे। अतः कई कदल उनके पास ही नये बने; जैसे हब्बा कदल। इन कदलों के नाम नहीं बदले गये, परन्तु सामान्तर ही दोनों खड़े हैं।

इस बार मैने देखा बढ़शाह कदल के आगे फलाईओवर बन चुका था। जिसने हरी सिंह हाई स्ट्रीट के ट्रेफिक जाम को खत्म कर दिया था।

हब्बा कदल मेरा प्रिय कदल था। मेरी दादी का घर उसके पास रघुनाथ मन्दिर के समीप था। हमारा हब्बा कदल आना जाना लगा रहता था। इसी पुल पर बैठ कर ग्रामीण औरतें, मछली, साग, गांठगोभी, नदरुं, होगाड़ा (सूखी मछली) बैठ कर बेचा करती थी, और ज़ोर–ज़ोर से आवाजें देकर ग्राहकों को बुलाया करती। हब्बा कदल क्योंकि काफी पुराना कदल था, यहां के आस–पास की आबादी भी बहुत थी, अतः यहां पर लोगों की बहुत भीड़ रहती थी। मेरे मन में हब्बा कदल की बहुत सी यादें हैं। गणपतयार मेरा ससुराल था, चींक्राल मुहल्ला, मेरी बुआ का घर, बाना मुहल्ला मेरी नानी का घर और सूमयांर मेरे मासी का घर। मेरे बचपन का जीवन काल इस पुल के आस–पास ही बीता, वह आज केवल यादें बन कर रह गयीं।

शेष कश्मीर घाटी में, क्योंकि नदियों की बहुत धाराएं बहती हैं। इनके आर पार जाने के लिए कई कदल बने हुए हैं, परन्तु गरिमा केवल इन नौं कदलों की है। जिनके साथ श्रीनगर शहर का जीवन जुड़ा हुआ है।

यातायात के साधन

श्रीनगर शहर के मध्य में जेहलम नदी बहती हुई निकलती है। यूं कहो यह शहर नदी के किनारे बस हुआ है। इसकी गलियाँ और बाज़ार संकरे थे। अमीरा कदल से लेकर सफा कदल तक बहुत ही घनी आबादी के मुहल्ले थे। संकरी गलियों में बाज़ार बहुत गहमा गहमी वाले होते थे। हब्बा कदल सबसे बड़े व्यापारिक संस्थान में परिवर्तित हो चुका था। इस लिए सब बाज़ारों में भीड़ होती थी। हर समय लोगों का इधर उधर आना जाना लगा रहता था।

यातायात के साधन समय के साथ–साथ बदलते रहे। चाहे यह बदलाव आज़ादी के बाद पूरे भारत वर्ष में आया परन्तु श्रीनगर में यह साधन तेज़ी से बदलते रहे।

'नाव' (किश्ती)

सबसे प्रथम यातायात का साधन नाव, हुआ करती थी। नावं प्रत्येक घाट पर खड़ी होती थी। मल्लाह अपने चप्पू लेकर नाव में बैठ यात्रियों का इन्तजार करते होते। नाव में बैठ कर नदी के आर–पार जाने का क्रम तो चलता रहता था। इसके अतिरिक्त नावों में नदी के माध्यम से नीचे ज़ैना कदल, सफा–कदल, बोहरी कदल आदि जगहों पर भी आना जाना लगा रहता था।

डोंगा

यह एक और आने जाने का माध्यम था। लोग पूरे परिवार के साथ सामूहिक तौर से डोंगे में सफर करना पसन्द करते थे। डोंगा बड़ी किश्ती से बने होते थे। एक चलते–फिरते मकान की भान्ति होता था। इस में घरेलू साजो समान सोफे पलंग नहीं होते थे। दो कमरे बने होते थे जिनमें 'बगुव' (चटाई) होती थी, और बगुव पर सब लोग नीचे बैठते थे। तीसरा कमरा, रसोई होती थी उसमें 'ओकचोर' (एक चूल्हा) आदि की उपलब्धि होती थी, ताकि खाना बन सके, या गर्म हो सके। 'हाकोल' (कच्चे कोयले का चूल्हा) भी होता था। चाय एक बड़े समावार में बनती रहती थी जो पारम्परिक केतली की तरह होती थी। बीच में कच्चे कोयले की आग जलती रहती थी और गर्म गर्म कहवा, या शीर चाय, पूरे परिवार को पिलाई जाती थी।

डोंगे का सफर आनन्ददायक होता था। यह पिकनिक की तरह होता था। मल्लाह लम्बे से बांस के साथ डोंगे को नदी के किनारे–किनारे चलाता रहता था। नदी क्योंकि आगे कई धाराओं से मिलती थी, अतः डोंगे को आगे चलने का रास्ता मिल जाता था। डोंगे में सामूहिक परिवार, आम तौर पर 'खीर भवानी' की यात्रा 'हवन' आदि करने जाते थे, और सफर का भी आनन्द लूटते थे।

टांगा

धीरे–धीरे समय की रफ्तार बढ़ी, नाव में पहुँचने देर लगाती थी। संकरी सड़कों, पर ट्रेफिक के बीच में टांगा भागता चला जाता था। टांगे वाला अपने घोड़े को चाबुक मार 'होश' 'होश' चिल्लाता रहता था। 'होश' का मतलब था, पब्लिक को आगाह करना, कि इधर उधर हट जाओ, हम आ रहे हैं। टांगे में चार या पांच व्यक्ति बैठते थे। रास्ते में जिस जगह किसी को

उतरना होता था, तो टांगा बार–बार रोक कर पुरानी सवारी उतारता था, और नई सवारी चढ़ाता था। टांगा एक वैभव का संकेत भी था। हमारे परदादा के पास अपना टांगा था जिसे वे अपने आने जाने के लिए इस्तेमाल किया करते थे।

टैम्पू 'गगुर'

टांगे के बाद टेम्पू आये। टेम्पू मोटरनुमा गाड़ी थी जिसमें एक साथ आठ दस लोग बैठ सकते थे। औरतें कामकाजी हो गई। उन्हें स्कूल, दफ्तर आना–जाना होता। जीवन में भगदड़ मची रहती थी। अतः तीव्र गति के साधनों की जरूरत पड़ी । टेम्पू को श्रीनगर में 'गगुर' कहने लगे। उसकी बनावट चूहे जैसी थी। अतः लोगों ने उसका नाम 'गगुर' ही रखा।

ऑटो

अब वहां पर ऑटो रिक्शा शुरु हो गये थे, परन्तु यह बाहर की सड़कों पर चलते थे।

शोर मचाता पींपीं करता टेम्पू अमीरा कदल से बुहिरकदल–बुहिरकदल से अमीरा कदल भागा चला जाता था। कंडक्टर के पास समय नहीं होता था, कि वह ढंग किसी से बात करे। हाथ में चवन्नी पकड़ कर टैम्पू या ओटो में बैठो और जहां उतरना है, फटाफट उतर जाओ। यही क्रम चलता रहता था।

मैटाडोर

यह टैम्पू से कुछ बड़ा आवाजाही का साधन था। एक साथ उसमें बीस के करीब लोग बैठ जाते थे। यह भी उन्हीं सड़कों पर भागा करती। व्यस्त जीवन के साथ–साथ आने जाने की रफ्तार भी बढ़ने लगी।

आज से बीस वर्ष पूर्व तक यही चलता रहा। इन संकरी गलियों में से पंडित लोगों को 1990 में पलायन करना पड़ा, मकान खाली हो गये या जल गये, बाज़ार बन्द हो गये। अतः आज जब मैं बीस साल बाद श्रीनगर गई तो वहां पर न टांगा, न गंगुर, न टैम्पू या कोई मैटाडोर थी।

कारें

लोग संकरी गलियों के मकानों को छोड़ बाहर ब्रजुला, एयरपोर्ट रोड, करण नगर आदि जगह पर जा कर बस गये। कारें रखने लगे और आवाजाही के साधन और सुलभ हुए, परन्तु शहर में कार का जाना संभव नहीं था। अतः कारें केवल शहर से बाहर मकान बनाने वालों ने लीं।

बस

लोकल बसें बहुत चलती थीं। शहर से गांवों में जाने के लिए, या दूसरे स्थान जैसे, डलगेट, बटमालू तक लोग लोकल बस में जाते थे। पूरी घाटी में सड़कों का जाल बुना हुआ था, जिस पर बसें चलती थी।

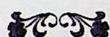
डीलक्स बस

पर्यटक स्थलों पर जाने के लिए अलग बसें होती थी। ये डीलक्स बसें थी। ये टूरिस्टों को आकर्षित करती थी, और इनमें सुख सुविधा के साधन थे।

मिनी बस

जिन स्थानों पर जाने के लिए यात्री कम होते थे जैसे घाटी के अलग–अलग ज़िलों में, गांवों में, उन सड़कों पर मिनी बस चला करती थी।

अतः यातायात के साधन प्रति दिन बढ़ते रहे। जीवन की रफ्तार बढ़ती रही और सुविधायें भी उसी प्रकार मिलने लगीं।





पहरावा



पहाड़ों से घिरी कश्मीर की घाटी का प्राकृतिक सौन्दर्य संसार भर में अद्वितीय है। इस प्रदेश का इतिहास बताता है कि इसने बहुत उतार चढ़ाव देखे। यह उतार चढ़ाव प्राकृतिक, आर्थिक, सामाजिक थे। अतः जीवन प्रतिपल बदलता रहा। इस बदलाव के साथ कश्मीरी पंडितों का जीवन भी बंधा हुआ था। वे लोग बार–बार त्रास्दी से गुज़रे और बार–बार पलयान के कारण, उनकी सांस्कृतिक विरासत उनसे दूर जाती रही। समय के बदलाव के साथ, रहन–सहन, पहरावा, खान–पान और जीविका के साधनों, में परिवर्तन आता रहा। इतिहास इस बात का गवाह है कि अगर कश्मीरी पंडित कुछ अपनी धरोहर संजोऐ हुए थे, वह सन् 1990 के पलायन के बाद सब कुछ खो चुके हैं।

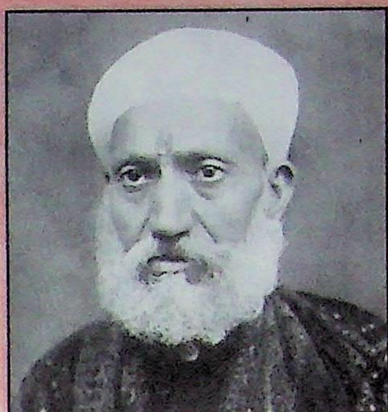
मैने युगों से चले आ रहे कश्मीरी पहरावे को ढूँढना चाहा। प्रत्येक परिवार से तस्वीरें मांगी। सब परिवार अपना सब कुछ पीछे छोड़ आये थे, फिर भी अपने स्नेही लोगों, ने अपने पुराने डिब्बों से धूल मिट्टी झाड़कर, मुझे पुरानी से पुरानी तस्वीरें निकाल कर दी। मैने उन्हें क्रमशः लगा कर अपने लुप्त हुए, पुरुष और स्त्रियों के पहरावों को पहचाना। कई पुरानी चीज़ों के मुझे नाम भी नहीं आते थे। वे मैने अपने बुजुर्गों से समझे, और इस अंक में लिखें। यह तस्वीरें हमारी धरोहर है, जो सन् 1835 से शुरू होकर सन् 2006 तक की हैं। यह चित्र हमें, हमारा, पहरावा, प्यार, सत्कार, जीवन स्तर, आध्यात्म, संयुक्त परिवार और संस्कृति बताते हैं। यह चित्र हमें हमारे पहरावे में बदलाव को 1835 से 2006 तक का पूर्णतया दर्शाते हैं।

पुरुष

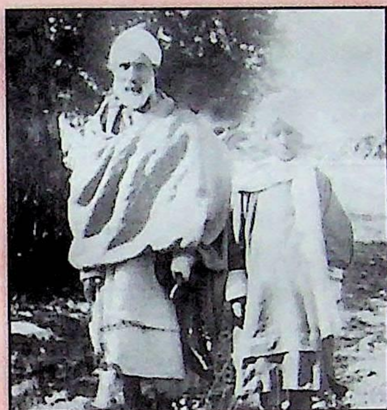
चित्र 1 : सन् 1825 समृद्ध परिवार का युवक राजसी वेष–भूषा में। यह चित्र हमें अपने मित्र के घर से मिला। यह 181 वर्ष प्राचीन असली चित्र था। इसके भाव भंगियायें खराब हो चुकी हैं। शायद यह चित्र पीढ़ी दर पीढ़ी



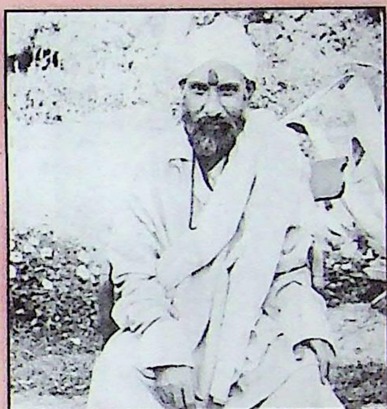
चित्र नं. 1 सन् 1835



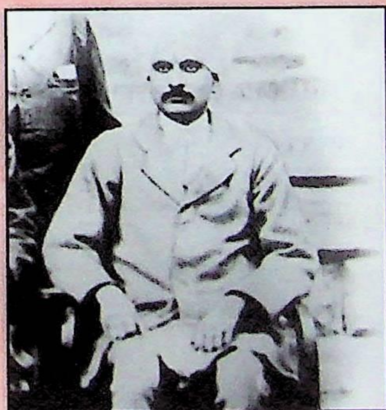
चित्र नं. 2 सन् 1849



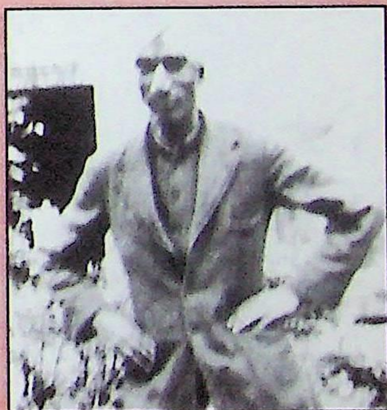
चित्र नं. 3 सन् 1880



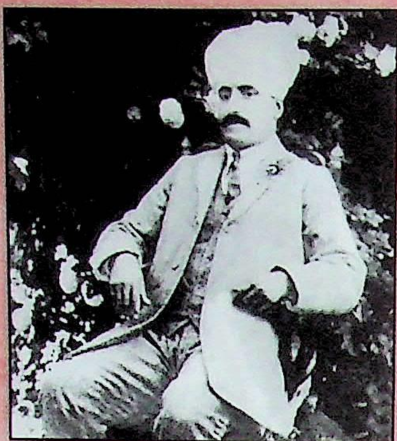
चित्र नं. 4 सन् 1892



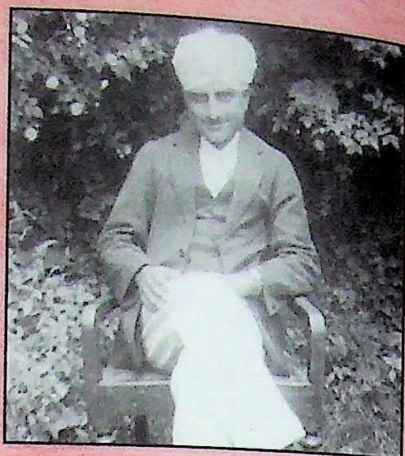
चित्र नं. 5 सन् 1919



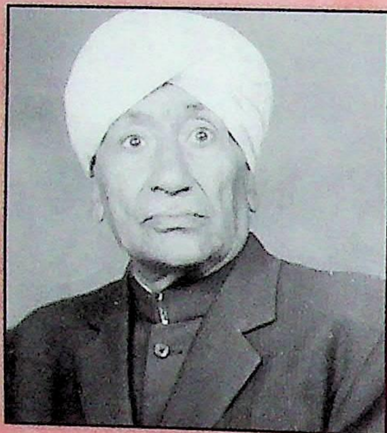
चित्र नं. 6 सन् 1935



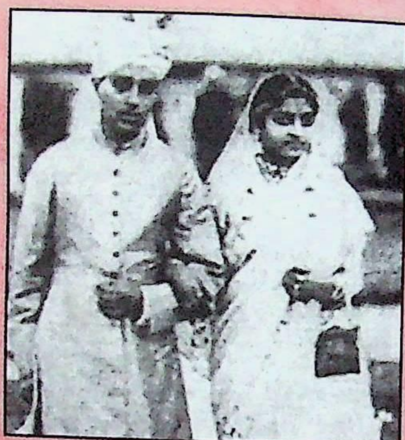
चित्र नं. 7 सन् 1940



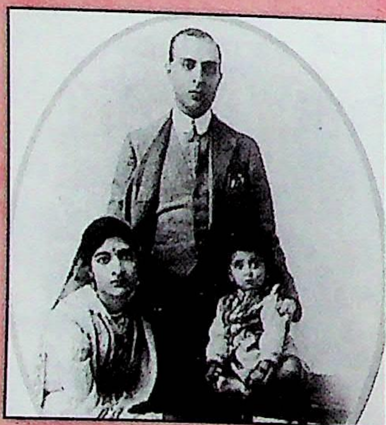
चित्र नं. 8 सन् 1940



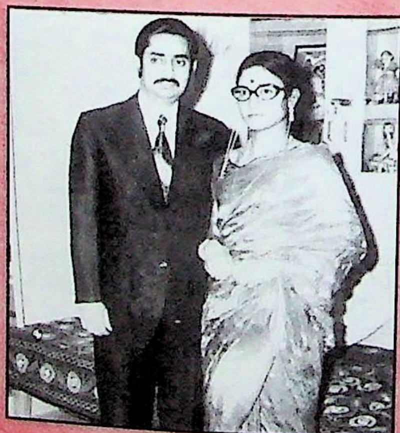
चित्र नं. 9 सन् 1942



चित्र नं. 10 सन् 1916



चित्र नं. 11 सन् 1919



चित्र नं. 12 सन् 1976

इसी प्रकार चलता रहा होगा, क्योंकि इस चित्र में हमारे मित्र की भावनायें थी। अतः यह चित्र उन्होंने अपने संचित सामान के साथ रखा हुआ था। सब कुछ कश्मीर में रह जाने के बावजूद यह चित्र उनके साथ था। यह चित्र सब से प्राचीन हैं। इस युवक के चित्र से पता चलता है कि वे वैभवशाली परिवार से थे और इनके संबंध राजसी परिवार से होंगे।

चित्र 2 : सन् 1849 यह चित्र भी हमें अपने मित्र से मिला यह चित्र उनके दादा जी का है। उन्होंने इसे अपने पूजा स्थल पर रखा हुआ था। वे इनसे प्रतिदिन आर्शीवाद मांगा करते थे। यह चित्र एक के स्वस्थ, अधेड़ उम्र, विद्वान, कार्यशील पुरुष का है। जो पारम्परिक राजसी वेशभूषा में है। यह वेशभूषा उनके राजसी सम्बन्धों को दर्शाती है। इनके सिर पर साफा बंधा है। यह आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व साफा बांधने का पारम्परिक तरीका था। समय अनुसार धीरे–धीरे इसमें परिवर्तन आते रहे। जिनका चित्रण आगे के चित्रों में है।

चित्र 3 : सन् 1890 कश्मीरी पंडितों का पारम्परिक पहरावा। कारकून परिवार के पिता और पुत्र का चित्र है। दोनों के सिर पर, साफा, फिरन, जिसके नीचे लाद लगी हुई है, फिरन की बांह में 'पोंछ' की 'नरिवार' है। 'पोंछ' फिरन के अन्दर की तह होती थी, जो 'फिरन' को सर्दियों में गर्म रखती थी। पिता के पांव में 'पुलहोर' है (घास की चप्पल) उन्होंने कम्बल ओढ़ रखा है। बेटे ने चूड़ीदार पैजामा, गले में चादर ओढ़ रखी है। उन दिनों दाढ़ी नहीं बनाते थे अतः आधी कटी दाढ़ी है। पीछे खुला मैदान, पेड़ की छाया, नीचे जमीन पर उगी घास यह उस समय की प्राकृति को दर्शाता है।

चित्र 4 : सन् 1892 कश्मीरी कारकून संस्कृतिक विद्वान की वेष भूषा है। 'फिरन', 'नरिवार', चूड़ीदार पैजामा, पांव में जुत्ती, सिर पर साफा, माथे पर सिंदूर का तिलक, अधकटी दाढ़ी और ओढ़ी हुई चादर है। गले में रुद्राक्ष की माला, उनकी हिन्दु धर्म में आस्था बताती है। पीछे पत्थरों की दीवार है और फूलों की क्यारी है। अंग्रेजी कुर्सी पर बैठे हैं। चेहरे पर तेज है।

चित्र 5 : सन् 1919 पहरावे में अंग्रेजी समाज का असर दिखता है। बन्द गले की कमीज़, कोट, पैंट, पांव में अंगेजी जूता, सिर पर साफा, माथे पर तिलक, और बिना दाढ़ी के हैं। अतः शेव किया हुआ है। सुन्दर सी मूछें रखी हुई हैं। चेहरे पर रौब और आत्मविश्वास है।

चित्र 6 : सन् 1935 बन्द गले की जैकट, कुर्त्ता या कमीज, जो कोट से लम्बी है। टांगों में पैजामा पहना है। सिर पर साफा, माथे पर तिलक है। पीछे उनके घर का दरवाज़ा है और फूलों के पौधे हैं।

चित्र 7 : सन् 1940 एक समृद्ध व्यक्तित्व, कमीज, टाई, बन्द जेकट, कोट, पैंट, कोट पर फूल लगा है। सिर पर साफा, मूछें और दाड़ी बनी हुई हैं। चेहरे पर आत्मविश्वास है।

चित्र 8 : सन् 1940 बन्द गले की कमीज, जैक्ट, कोट, पैंट, पांव में अंग्रेजी जूते, सिर पर साफा पीछे बेल बूटे हैं। वैभवशाली–कुर्सी पर बैठे हैं और चेहरे पर मुस्कान है।

चित्र 9 : सन् 1942 बन्द गले की जैक्ट, कोट, सिर पर साफा, माथे पर तिलक, कोट की जेब में पैन और चेहरे पर रौब है।

चित्र 10 : सन् 1919 पलयान के कारण कश्मीरी परिवार का नवविवाहित जोड़ा उत्तरी भारत के पहरावे में है, सीधे पल्ले की साड़ी, 'डेजहोर', 'अटहोर', उंगलियों में अंगूठियाँ, माथे पर तिलक, सिर पर सोने की मांग और माथा पट्टी 'सुम' और पर्स लिये खड़ी हैं। दूल्हे ने अचकन, चूड़ीदार पजामा पहन रखा है और सिर पर साफा बांध रखा है।

चित्र 11 : सन् 1919 यह चित्र ऐसे कश्मीरी पंडित का है, जिनके परिवार 1919 से कई वर्ष पहले पलायन कर गये थे। वे पूर्णतया अंग्रेजी पहरावे में हैं, पैंट, कोट और जैकिट पहना हुआ है और सिर पर साफा नहीं है।

चित्र 12 : सन् 1976 वेषभूषा में परिर्वतन आने लगा। जल्दी पलायन करने वाले जम्मू में बस गये। इस चित्र में पुरुष अंग्रेजी वेष भूषा में है। जैसे पैंट कोट, कमीज़ और टाई हैं। महिला पारम्परिक साड़ी में है। कानों में बड़ा डेजहोर, अटहोर और अठ है। पीछे दीवान पर कश्मीरी कढ़ाई वाला गब्बा बिछा हुआ है।

चित्र 13-14 : सन् 1840 अत्यन्त दुलर्भ चित्र। यह एक संयुक्त परिवार का चित्र है। इसे किसी मेखला या विवाह के समय खींचा गया होगा। यह चित्र हमें जीर्ण क्षीर्ण अवस्था में मिला। वर्षो से यह चित्र एक यादगार की तरह विस्थापित परिवार के बचे–खुचे सामान में रह गया था। यह हमारा पहरावा था और हमारी परम्परा को दर्शाता है। इस चित्र में सभी महिलायें अपने पारम्परिक, वैभव शाली पहरावे में है। ग्रहों से लदी, फिरन, कमीज़,



चित्र नं. 13 सन् 1840



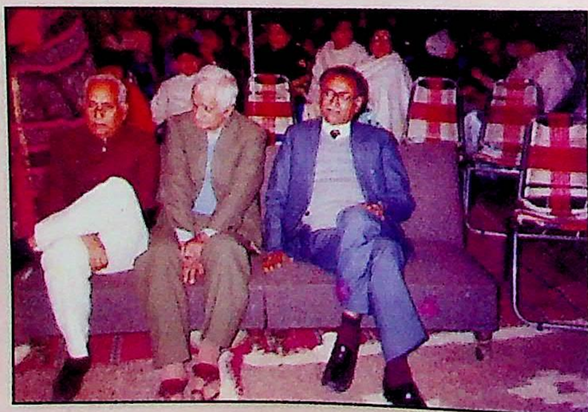
चित्र नं. 14 सन् 1840



चित्र नं. 15 सन् 1940



चित्र नं. 16 सन् 1952



चित्र नं. 17 सन् 1986

नरिवार, डर, तेरगा, पूंछ, कमर में लोंगी और कानों में कनवाजि, तलरज़, बड़ा डेज़होर, अठ और अटहोर है। फिरन में एक खास बात यह है कि इस में लाद बड़ी अच्छी तरह से दिख रही है। लाद फिरन के नीचे के भाग में एवं छोटी सी तह और सिलाई की होती है। यह लाद, हिन्दु और मुस्लिम फिरन में भिन्नता दिखाती है। इन महिलाओं ने पावं में बिना जुराब के जूते पहने हैं और कोई सलवार या पैजामा नहीं पहना हुआ है। यह चित्र सब चित्रों में सब से प्राचीन चित्र है। अतः अधिकतर महिलाएं कम उम्र की हैं। पारम्परिक पहरावा विवाहित महिला का होने के कारण, यह चित्र दर्शाता है कि उस समय लड़कियों के विवाह कम उम्र में होते थे। मध्य में एक महिला सीधे पल्ले की साड़ी पहन कर एक नवजात शिशु को गोद में लिए, कुर्सी पर बैठी है। ऐसा लगता है कि यह महिला घर की सबसे बड़ी महिला है। वह या मां या सासू है। उसका बहुत आदर सम्मान है। बच्चे बहुत ही सुन्दर वेष–भूषा में है। एक बच्चा बड़े ही आकृषित ढंग से लेटा हुआ है।

चित्र 15, 16 : सन् 1952 संयुक्त परिवार, मेखला के समय पर खेंचा हुआ चित्र, जिसमें प्रत्येक प्रकार का पहरावा है। फिरन और तरंगा, सीधे पल्ले की साड़ी, पुरुषों का कमीज, कोट, पैंट और साफा, युवकों की कमीज और पैंट, बच्चों की फ्राक, लड़कियां की सलवार कमीज़, इन दोनों चित्रों में पारम्परिक पहरावा और उस समय के, आधुनिक पहरावे का चित्रण है।

चित्र 17 : सन् 1983, 1947 में कश्मीरी पंडितों के पलायन के कारण पंजाब में रहने से पहरावे में बदलाव आ गया। पहरावा पूर्णतया अंग्रेजी हो गया था। 1986 का चित्र तीन पुरुषों की वेश–भूषा दिखाता है। पहले पुरुष ने बंद गले का कोट एवं पैंट, पाँव में जूते, दूसरे ने कोट, पैंट और चप्पल, तीसरे पुरुष ने कोट, पैंट, कमीज, स्वैटर, टाई, जुराब और अंग्रेजी जूते पहने हुए हैं। यह चित्र पूर्णतया आधुनिक पहरावा दिखाता है।

स्त्री

कश्मीरी स्त्री समाज और उनके पहरावे का बदलाव–इन चित्रों में चित्रित है।

चित्र 18 : सन् 1918 महिला मध्यम वर्गी परिवार की है, उसने 'फिरन', 'नरिवार', 'डूर', 'लौंगी', 'तरंगा', 'डेजहोर', 'अटहोर', 'धागे की तालरज़' पहन रखी है। साथ में पुत्र है जो अंग्रेजी वेषभूषा में है।

चित्र 19 : सन् 1920 यह चित्र एक वैभवशाली परिवार की महिला का

है। इसने कमीज, 'फिरन' 'नरिवार' 'तरंगा' 'पूंच' और गले में स्कार्फ बाँध रखा है। कानों में बड़ा अटहोर, बड़ा 'डेजहोर' 'कनवाजि' (कानों की बालियाँ), सोने की 'तालरज़', गले में सोने का रानी हार, कमर में लौंगी, हाथों में अंगूठी पहन रखी है। चेहरे पर रौब है।

चित्र 20 : सन् 1935 बृद्ध महिला जिसने 'फिरन' 'सफेद' 'नरिवार', 'डूर', 'तरंगा', 'पूंच', 'लौंगी' पहन रखी है। उसके कानों में कनवाजि और 'कनपन' है। इस चित्र में माता ने हाथ जोड़ रखे हैं। जो उनका आध्यात्मिक स्वभाव दर्शाता है।

चित्र 21 : सन् 1940 महिला ने पारम्परिक पहरावा, 'फिरन', 'डेजहोर', 'अटहोर', 'तालरज़', 'तरंगा' और उसके ऊपर 'दजि' पहनी है। "दजि" कश्मीरी पारम्परिक पहरावे को पूर्ण कर देता है। महिला मसनन्द पर बैठी है और हाथ में कांगड़ी और उस पर 'चालन' लगी है। चेहरे पर गौरवपूर्ण मुस्कान है।

चित्र 22 रू सन् 1942 ग्रामीण महिला का चित्र, दोहरा फिरन, दोहरा नरिवार, तरंगा, डेजहोर, अटहोर और नरिवन लगाये हुए हैं। नरिवन मेखला के समय बालों में लगाये जाते हैं।

चित्र 23 : सन् 1950 गौरवपूर्ण महिला 'फिरन', 'डूर' 'नरिवार', उसके ऊपर ज़री का बार्डर, 'तरंगा', 'पूंच', 'तरंगे' में काली सूईयाँ "स्चिनि" 'डेजहोर', 'अटहोर', धागे की 'अठ' और धागे की 'तालरज़', चेहरे पर मुस्कान है। यह वैभवशाली परिवार की महिला का चित्र है, क्योंकि नरिवार पर ज़री का बार्डर है।

चित्र 24 : सन् 1956 नई दुल्हन के आने पर संयुक्त परिवार का चित्र, इस समय तक फिरन, तरंगा लुप्त हो चुका है साड़ी ही मुख्य पहरावा थी। बच्चों ने अंग्रेजी वेष भूषा पहन रखी है। पुरुष भी अधिकांश अंग्रेजी वेशभूषा में है केवल घर के सर्वोत्तम पुरुष ने पारम्परिक वेशभूषा जैसे अचकन, चूड़ीदार पजामा पहन रखा है।

चित्र 25 : सन् 1956 वृद्ध महिला 1947 में परिवार के पलायन के कारण उन्हें पंजाब में जाकर फिरन को छोड़ना पड़ा और उत्तर भारत का पहरावा साड़ी को अपनाना पड़ा। कानों में 'कनवाजि', 'कनपन' हाथों में 'सुरमाला' और बायें हाथ में कंगन है।



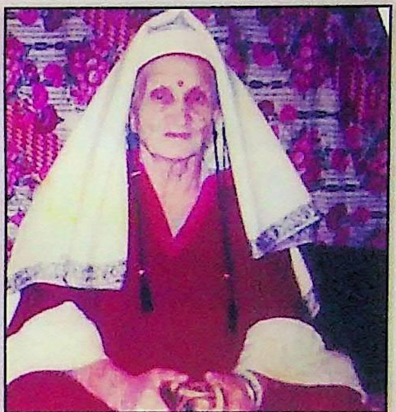
चित्र नं. 18 सन् 1918



चित्र नं. 19 सन् 1920



चित्र नं. 20 सन् 1935



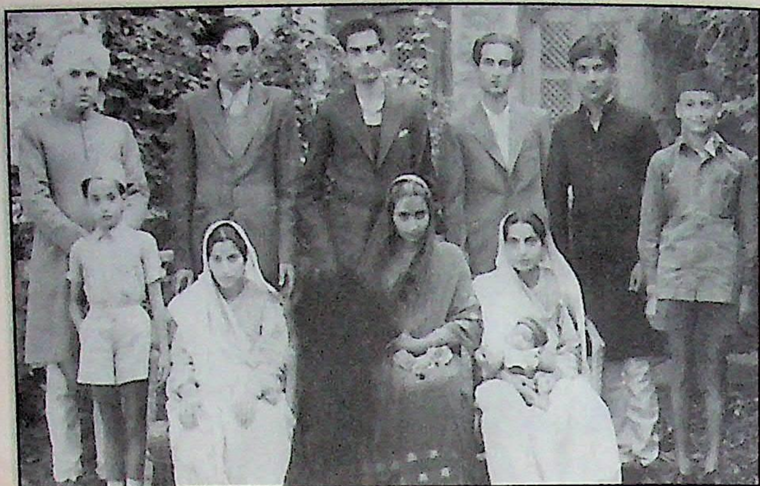
चित्र नं. 21 सन् 1940



चित्र नं. 22 सन् 1942



चित्र नं. 23 सन् 1950



चित्र नं. 24 सन् 1956



चित्र नं. 25 सन् 1952



चित्र नं. 26 सन् 1992



चित्र नं. 27 सन् 2005



चित्र नं. 28 सन् 2006

चित्र 26 : सन् 1992 यह चित्र कश्मीरी महिला का है। जल्दी पलायन करने के कारण पंजाब में वे बस गये। पंजाब के परिधान का असर दिखता है। इन्होंने पंजाब की पारम्परिक पहरावा सलवार कमीज़ और चुन्नी पहनी हुई है। यह पहरावे के सामाजिक परिवर्तन को दिखाता है और जिस प्रान्त में रहते हैं इस प्रान्त का असर दिखाता है। यह महिला मेरी आत्मीय है। डेजहोर अठ और अटहोर पहनती हैं। जिसे उन्होंने पीछे जुड़े में टांग रखा है। दूर से चित्र खींचने के कारण चित्र में दिखता नहीं है।

चित्र 27 : सन् 2005 आधुनिक पहरावा। पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण। आजकल जीन्स और टोप, खुले संयोजित बाल और उनमें टंगा छोटा अढ, अटहोर और डेजहोर है। यह हमें पहरावे की परम्परा में बदलाव दिखाता है। साथ में सुन्दर सी बच्ची है।

चित्र 28 : सन् 2006 उत्तर भारत का पहरावा लहंगा, चोली और चुन्नी यह आधुनिक समय के लड़कियों के पसन्दी का पहरावा है। विवाह के दिन आजकल लहंगा चोली ही पहना जाता है। कश्मीरी लड़कियां भी पारम्परिक तरंगा, पूच़ डेजहोर के साथ लहंगा चोली, चुन्नी पहनना पसन्द करती है।



कश्मीर की प्रमुख कवयित्रियां

'आधुनिक कश्मीरी' भाषा में लिखा हुआ साहित्य 14वीं शताब्दी से उपलब्ध हैं। उससे पहले 6वीं तथा 11वीं शताब्दियों में रचित साहित्य 'प्राचीन कश्मीरी' में है। 14वीं शताब्दी कश्मीर के साहित्य में महत्त्वपूर्ण विभाजन रेखा है।

ललेश्वरी

सन् 1320 के आस–पास श्रीनगर के एक गाँव में जन्मी लला इस राजनीतिक उथल–पुथल और तेजी से हो रहें इस्लामीकरण की प्रत्यक्षदर्शी थी। पास के ही एक गाँव में ब्याही लला को, उसकी आध्यात्मिक प्रवृति के कारण, ससुराल में बहुत यातनाएँ दी जाती। उसके सास और पति उसे तरह–तरह से प्रताड़ित करते। तंग आकर उसने घर–बार त्याग दिया और गुरु सिद्ध श्रीकण्ठ की शिंष्या हो गई। सिद्ध श्रीकण्ठ कश्मीर–शैवमत और योग में निपुण थे। उनकी दीक्षा में लला योगिनी, वेदान्तिन, आरिफा, माता ललेश्वरी या ललद्यद (दयद अर्थात् दादी/नानी) कहलायीं।

ललेश्वरी ने कश्मीर शैवमत, त्रिक तथा योग का गहन अध्ययन किया एवं इस दर्शन और साधना से जुड़े अनुभवों को कश्मीरी भाषा में, वाखों (पद्य) में, वचनबद्ध किया। इन वाखों की दार्शनिक गहनता, भाषा और माधुर्य कश्मीरी साहित्य के इतिहास में अब भी सर्वोच्च है। शैवमत के एकेश्वरवाद पर बल देने के कारण उस समय के फारसी सैयद मुसलमानों ने लला को आदर से 'आरिफा' का दर्जा दिया। ललेश्वरी का ईश्वर सर्वशक्तिमान है जो मानव जाति का मित्र है। वह हर दिशा, हर कण में विद्यमान है तथा उसे पाने के लिए किसी धार्मिक स्थल की आवश्यकता नहीं है। न ही फूलों, न धूप–दीप की–

देव फिर पूजा कैसी आज?
तू ही पवन, गगन, भूतल तू, तू ही दिन तू रात
तू ही अर्ध्य-पुष्प-जल चन्दन, सब कुछ तू ही तात।
व्यर्थ आरती! व्यर्थ ये पूजा के सब साज
देव फिर पूजा कैसी आज।।

ललेश्वरी के अनुसार शिव को गहन योगसाधना से प्राप्त किया जा सकता है। वे कहती हैः

प्रेम की ओखली में हृदय कूटा
प्रकृति पवित्र की पवन से।
जलायी भूनी स्वयं चूसी
शंकर पाया उसी से।।

लला नये शासकों की क्रूर कार्यशैली तथा पण्डितों की रूढ़िवादिता, दोनों से परेशान थी। आम लोगों को बल, छल और भय से इस्लाम धर्म कबूल करने पर बाध्य किया जा रहा था। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर लोग धर्म–परिवर्तन कर रहे थे। अशान्ति और बर्बरता की इस स्थिति को देखकर लला कराह उठीः

बुद्धि को भूख से मरते देखा
जैसे पतझड़ में पेड़ से पत्ते गिरते हों
एक मासूम को रसोइये की हत्या करते देखा
मैं लला श्वास रुकने की प्रतीक्षा में हूँ।

जब घाटी में व्यापक स्तर पर लोगों को धर्म–परिवर्तन के लिए बाध्य किया जा रहा था तो शिव की अमरता में दृढ़ विश्वास रखने वाली लला कह उठीं :

हम ही थे, हम ही होंगे
हम ही ने चिरकाल से दौर किये
सूर्येदय और अस्त का कभी अन्त नहीं होगा
शिव की उपासना कभी समाप्त नहीं होगी।
"आम्यन टाक्यन पोन्य जन श्रमान
जुव छुम ब्रमान, घर गछहा"

मिट्टी के कच्चे सकोरों से ज्यों पानी रिस रहा हो, मेरी जी कसक रहा है, कब अपने घर चली जा ऊँ?

"दमी इयूठुम नद ग्रज़वनी
दमी इयूठुम सुम न त तार
दमी इयूठुम थेर फोलुवनी
दमी इयूठुम गुल न त खार।"

ललद्यदी कहती है कि मैने अभी नदी को भयंकर रूप से उफनते–गरजते देखा और अभी उस पर पुल बनते देखा। अभी–अभी फूलों–फलों से लदी बरजस्त डाल देखी और अभी देखा कि उस डाल पर न फूल है, न काँटे।

"होंड मारितन काह कठ, ललि नीलबठ चलि न जांह।"

घरें में दावतें हों बकरे कटे, पर लल्ली की थाली में बट्टा मौजूद रहेगा।

ललेश्वरी के जीवन–काल में ही इस्लामीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई थी। परन्तु इस प्रक्रिया की सभी सीमाएँ मंगोल मूल के सिंकदर (बुत–शिकन अर्थात् मूर्ति भंजक) ने लांघ दीं। उसने कश्मीर के भव्य मंन्दिर, आश्रम और विहारों को तहस–नहस किया। इस कार्य में उसका मंत्री सुहा भट्ट कुछ ही समय पहले इस्लाम धर्म में शमिल हो गया था। सिंकदर ने पूरे कश्मीर में इस्लामीकरण किया। हज़ारों लोगों को मार डाला। कहा जाता है कि उस समय पूरे कश्मीर में हिन्दुओं के केवल ग्यारह घर बचे रह गये। अधिकतर लोग मुसलमान धर्म में शमिल हो गये थे या मारे गये थे। कुछ लोग घाटी से बाहर भाग गये थे। सिंकदर की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र जैन–उल–आबदीन ने 15वीं शती के मध्य में अन्य प्रदेशों में जा बसे पण्डितों को वापस बुला लिया। ललेश्वरी और उनके शिष्य नुंद ऋषि (जिनकी जियारत चरारे–शरीफ में हैं), का दर्शन और नीति, जैन–उल–आबदीन का मार्गदर्शक बना, जिसके फलस्वरूप कश्मीर में कुछ समय तक फिर से शान्ति का वातावरण बन सका।

कश्मीरी मानसपटल पर ललेश्वरी का गहन प्रभाव रहा है, इसी कारण उनके जीवन तथा आध्यात्मिक शक्ति को लेकर अनेक लोक कथाएं मिथक प्रचलित हैं। उनकी शक्ति, योग–साधना, दूरदर्शिता और दर्शन उनके वाखों

में विद्यामान है। ये कश्मीरी साहित्य के शिखर व्यक्तित्व तो हैं ही, उत्तर भारतीय भक्ति साहित्य की अग्रणी भी हैं।

हबा खातून

16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक साधारण किसान लड़की जून अर्थात्–'चंद्रमा ने कश्मीरी भाषा में पहली बार नारी–पुरुष की प्रेम–अग्नि तथा विरह–पीड़ा को सामान्य जनभाषा में, संगीतात्मक और लयबध पद्य में प्रस्तुत किया। जून बाल्यकाल से ही मधुर वाणी में गीत गाती थी। उस समय की रीति के अनुसार छोटी आयु में ही उसका विवाह एक गँवार किसान से हुआ, जहाँ उसे, उसकी मधुर वाणी और प्रतिभा के कारण, प्रताड़ित किया जाता था। संभवतः उसी काल में जून ने गाया होगा:

ससुराल में कुछ भी ठीक नहीं है
कोई उपाय करो मायके वालो!
पानी का घड़ा लाने घर से निकली
घड़ा टूट गया मायके वालो!
या तो घड़े के बदले घड़ा
नहीं तो घड़े के पैसे दो मायके वालो!!
"कवो रिन्दो चे करिथम छल, वलो मो चल वलनो मोचल"
काहे मुझसे छल करके दूर चल दिये प्रिय,
लौट आओ मुझसे दूर मत जाओ।

एक दिन जून खेतों में काम करते–करते मधुर सुरों में कोई दर्द–भरा गीत गा रही थी कि तभी वहाँ से युवराज यूसुफ चक गुजरा। जून का गीत सुनकर वह उस पर मर मिटा। जून के पति को उसे तलाक देने का आदेश हुआ और जून युवराज यूसुफ चक के महल में 'हब्बा खातून' के नाम से रहने लगी। महल में उसने फारसी भाषा तथा संगीत का प्रशिक्षण लिया।

कहा जाता है कि यूसुफ चक ने उसे अपनी रानी बनाया उसका ठीक प्रमाण नहीं मिलता है। युसुफ चक सन् 1576 से 1587 तक कश्मीर का राजा रहा। मुगल बादशाह अकबर ने कश्मीर पर आक्रमण कर कश्मीर के अन्तिम सुलतान यूसुफ चक को बन्दी बनाकर पटना में कैद रखा। हब्बा खातून कश्मीर वादी में भटकती प्रियतम के विरह में गीत गाती रहीं।

हब्बा खातून के जीवन के लगभग 20 वर्ष अत्यंत आनंद और प्रसन्नता से बीते, परन्तु उसके बाद वह विरह की अग्नि में जलती रही जिसे उसने अपनी कविता में बेबाक और प्रभावशाली भाषा में प्रस्तुत किया–

तेरे प्रेम की अग्नि में मैं जल रही हूँ
मैं केवल तुझे चाहती हूँ, तेरे सपने देखती हूँ
मेरे बादामी-चश्म रक्त के आँसू बह रहे हैं
प्रियतम, तुम क्यों नहीं आते?
आज भी हब्बा ख़ातून के गीत गाये जाते है।

रूपा भवानी

17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में श्रीनगर के एक शैव, माधव के घर में जन्मी रूपा का अध्यात्मिक प्रशिक्षण उसके पिता के घर से ही आरम्भ हुआ था। बाल्यकाल में ही रूपा का विवाह कर दिया गया। जहाँ पर इस बाल–वधू को तरह–तरह की यातनाएँ और ताने सहने पड़े। उसके सास और पति उस पर अत्याचार करते थे। उस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए रूपा ने घर–बार त्याग दिया और सूफियों संतों की शरण में चली गयी। उसने वेदान्त और कश्मीर शैवमत का गहन अध्ययन किया। ललेश्वरी की कविताओं ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया और उसने ललेश्वरी को ही अपना गुरु स्वीकार किया–

लला नामक लल परम गुरु
ललेश्वर की शरण में आयी हूँ

रूपा ने सामान्य जन की भाषा का प्रयोग न कर 11वीं शती की प्राचीन कश्मीरी में काव्य–रचना की। इस कारण उसकी भाषा प्राचीन होने के साथ–साथ जटिल थी। रूपा 9 दशकों तक जीवित रही तथा अपने जीवनकाल में ही 'संत रूपा भवानी' कहलायीं। माघ मास के कृष्णपक्ष की सप्तमी उनके आदर में 'साहिबा सप्तमी' के नाम से मनायी जाती है। उन्हें देवी शारिका का अवतार माना जाता है।

रूपा भवानी एक समाज–सुधारक थीं। उन्होंने पशुबलि, मदिरापान, बाल विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों का परित्याग करने तथा एक मानवतावादी दृष्टिकोण को जीवन में अपनाने के लिए जन साधारण को प्रेरित किया।

अरनिमाल

सन् 1757 में अफगान आक्रमणकर्त्ता अहमदशाह अब्दाली ने कश्मीर पर नियंत्रण कर लिया और कश्मीर के इतिहास में हत्या, हिंसा और बर्बरता का एक और अध्याय जुड़ गया। अफगान किसी भी सुन्दर महिला को उठाकर ले जा सकता था। परिणामतः पर्दा–प्रथा, बाल–विवाह और औरत का घर की चार–दीवारी मे बन्द रहना अनिवार्य और आवश्यक हो गया था। इतिहासकार कहते हैं कि उस काल में घर के बाहर केवल कुरूप और बूढ़ी–मरियल महिलायें ही दिखती थीं। नारी स्वतंत्रता पर 14वीं शताब्दी से ही अंकुश लगा था, परन्तु अफगान–शासन काल में उसका जैसे अस्तित्व ही समाप्त कर दिया गया था। इसी काल में (18वीं शती के उत्तरार्द्ध में) मुंशी भवानीदास काचरू नाम का एक व्यक्ति अपनी बुद्धिमता के कारण राजदरबार में एक महत्वपूर्ण पद पर आसीन हुआ। वह फारसी का प्रखर विद्वान तथा कवि था।

भवानीदास का विवाह बाल्यकाल में ही अरनिमाल नाम की बालिका से हुआ था। राजदरबार मे पदवी और प्रशंसा प्राप्त करने के पश्चात् वह अपनी विवाहिता को पूर्णतः भूल गया। अपने यौवन को नष्ट होते देख अरनिमाल का हृदय सिहर उठा और वह विरह–पीड़ा के करुणा भरे गीत गा उठी–

मैं सावन की जुही पीली पड़ गई हूँ
वह कब आयेगा
उसका सुन्दर चेहरा मैं कब देखूँगी।

ऐसे कथन है कि वह चरखे पर सूत/रेशम/ऊन कातते हुए गीत गुनगुनाती थी। उसके गीत चरखे को भी संबोधित हैं–

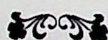
चीं-चीं मत कर मेरे चरखे
मैं तुझे तेल में भिगो दूँगी।

वह हर पल अपने प्रियतम के कदमों की आहट सुनने को बेकरार थी, जिसमें चरखे की चीं–चीं विघ्न डालती थी। उसका प्रियतम ही उसका ईश्वर था, जिसकी प्रतीक्षा में उसने जीवन बिता दिया–

तुम्हारे पाँव मेरे आँगन को कब छुएँगे
मैं उन्हें अपने सिर पर रखूँगी, तुम आओ।
कभी मैं एक सुन्दर युवती थी

और अब अपने यौवन में ही फीकी पड़ गई हूँ, तुम आओ
और यह कहते कहते ही उसका देहान्त हो गया।
"अरेणि रंग गाम श्रावणिनि हिये
कर यीये दर्शुन म्ये दीये........।"
सावन की हरियाली लता थी मैं, तेरे
विरह में पथरा गई। कब मुझे दर्शन देने आओगे ?

उपरोक्त संक्षिप्त सर्वेक्षण एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि कश्मीरी साहित्य मे महिला–रचनाकारों का महत्वपूर्ण योगदान है। उत्तर भारत में भक्ति –साहित्य की अग्रणी लला ही हैं। उनके पद्य में कश्मीरी शिवमत, योग–साधना और दर्शन का खुलासा है। उन्होंने अपनी कविता के माध्यम से शान्ति, सद्भाव और भाईचारे का पाठ जनता तक पहुँचाया, जिसके परिणामस्वरूप वे जन–जन की माँ कहलायीं। रूपा भवानी, भाग्यवान् द्यद, मथुरा देवी (दोनों 20वीं शती) ने ललेश्वरी की धरोहर को आगे बढ़ाने की कोशिश की है। उसी प्रकार हब्बा–खातून और अरनिमाल ने अपने गीतों में गाँव–शहरों की उदास तथा विरह से पीड़ित महिलाओं की भावनाओं को वाणी दी। इस लिए उनके संगीतमय प्रेमगीत आज भी लड़कियाँ गुनगुनाती रहती है। जिससे उनकी पीड़ा दूर हो जाती है इन कवित्रियों ने कश्मीर की कविता को अमर कर दिया है।



कश्मीर के पेड़ पौधे और फल

केसर

केसर कश्मीर की गरिमा है। केसर का पौधा कश्मीर की पहचान है। संसार भर में केसर केवल दो तीन जगह पर उगता है। केसर के छोटे–छोटे पौधे होते हैं। यह पोम्पुर ज़िला अनन्तनाग में पैदा होते हैं। इसका वैज्ञानिक नाम ृब्तवबने सिवूमतश है।

केसर के फूल केवल पतझड़ में होते हैं। इसे बहुत थोड़े पानी की आवश्यकता होती है। बारिश इसके फूलों को खराब कर देती है। केसर के फूलों की क्यारियां दूर–दूर तक फैली होती हैं। यह जामनी रंग का फूल होता है। एक जामनी रंग की चादर चारों ओर बिछी दिखती है। चान्दनी रात में इसका दश्ेय भव्य होता है।

1985 में हम लोदुव गांव गये थे। वहां पर हमारे मामा जी के खेत थे। सेबों के बाग, केसर की क्यारियाँ, अखरोट के पेड़। वहां का भव्य दश्ेय मन में बैठा हुआ हैं। केसर के फूलों को बड़े ही कोमल ढंग से चुना जाता है। यह काम औरतें करती हैं। उन्हें हल्के से टोकरी में रखा जाता है। इन फूलों को घर में लाकर उसी दिन उस में से पराग निकालना पड़ता है। इसका भी अपना ही तरीका है। जमीन पर गलीचा बिछा कर, सामने टेबल रखा जाता है। उस पर सफेद चादर बिछाई जाती थी। सफेद चादर पर केसर की पहचान आसानी से होती है। इस टेबल के ऊपर एक बिजली का बल्ब लटक रहा होता है। जिसकी रौशनी से केसर के फूलों की पत्तियों के बीच में से, पराग हल्के से पकड़ कर तोड़ना पड़ता है। पराग को एक तरफ रखा जाता है और पंखुड़ियां दूसरी तरफ रख दी जाती हैं। केसर के फूलों में से थोड़ा सा पराग निकलता है। यह सुनार के काम की तरह होता है। इसी कारण से केसर बहुत महंगा होता है। केसर का कश्मीरी संस्क`ति

में. बहुत महत्त्व है। केसर का प्रयोग दवाई के रुप में किया जाता है। इसका कहवा बनता है। केसर को पीस कर इसका तिलक लगाया जाता है। हमारे गुरु जी हमेशा केसर का तिलक लगाते थे। केसर से दहीं के बड़े बड़े कुण्डे, 'डुल' के उपर डाल कर सजाया जाता था। जो वधू अपने मायक से शगून के तौर पर लाती थी। यह दहीं केसर और बादाम से सजी होती थी। प्रत्येक त्यौहार पर बांटी जाती थी। जिसका वितरण मित्रगण और रिश्तेदारों में होता था। खीर और फिरनी भी केसर से सजाई जाती थी। पुलाव, बिरियानी, रोगनजोश आदि पकवानों में भी केसर इस्तेमाल होता है।

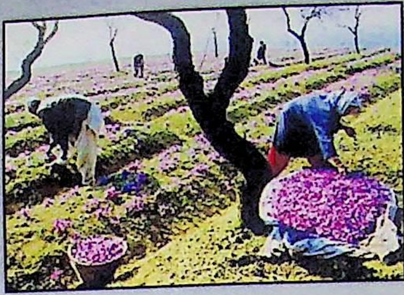
चिनार के पेड़

चिनार के बड़े–बड़े पेड़ कश्मीर में उगते हैं। चिनार एक विशालकाय पेड़ होता है। सुन्दर, भव्य और ठंडी छांव देता है। चिनार की उमर सैंकड़ों वर्ष होती है। यह पतझड में अपने पत्ते गिरा देता है। ठुंठ जैसा विशालकाय पेड़, अपनी अलग ही शोभा देता है। जमीन पर पड़े स्वर्णिम पत्ते अपने प्रेम, आकर्षण की गाथा सुनाते हैं। इनके ऊपर चलने से चरमराहट सी पैदा हुई आवाज मन को लुभाती है।

चिनार के पेड़ केवल कश्मीर में होते थे, परन्तु अब कई और पहाड़ी जगहों में भी उगाने की कोशिश की जा रही है। परन्तु मौसम की भिन्नता के कारण, दूसरी जगह पर यह कश्मीर जैसे विशालकाय पेड़ नहीं बन पाये।

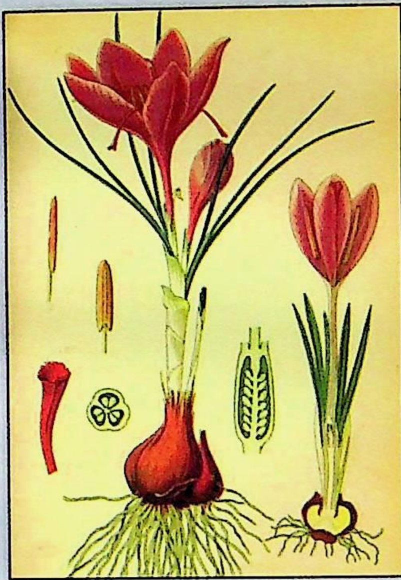
चिनार कश्मीर की शान है। चार चिनारी डल झील में एक टापू है। वह एक सैर गाह थी। चार चिनारी में चिनार के पेड़ के नीचे बैठ आनन्द लूटा जाता, परन्तु अब वहां केवल तीन चिनार ही रह गये हैं। एक नष्ट हो गया है।

खीर भवानी चिनार के पेड़ों से भरी थी। चिनार का पेड़ हमें सहलाता था। मन को सकून देता था। आध्यात्मिक आनन्द देता था। मां देवी के प्रांगण में वातावरण ही भिन्न होता था। पतझड में चिरमराते सुनहरे पत्ते फर्श पर पड़े, बहुत ही अच्छे लगते थे। ऐसा लगता था कि वह पीले निष्प्राण पत्ते, हमें अपनी कहानी सुना रहे हैं कि कितने भाग्यशाली हैं वे, क्योंकि मां के आंगन में उन्होंने जन्म लिया। चिनार के पेड़ के चारों ओर

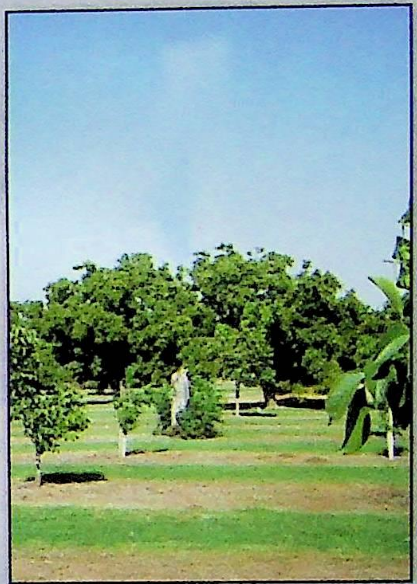




केसर की क्यारियाँ



केसर का पौधा



अखरोट के पेड़





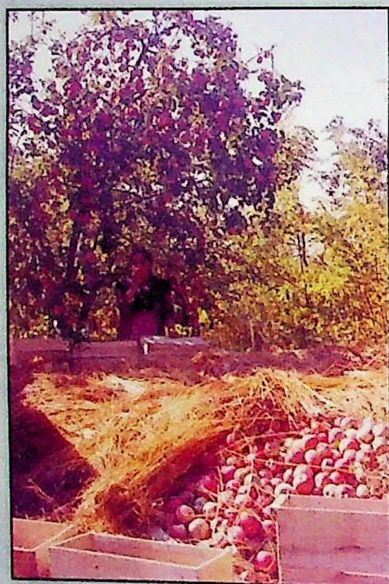
कश्मीरी सब्जियां

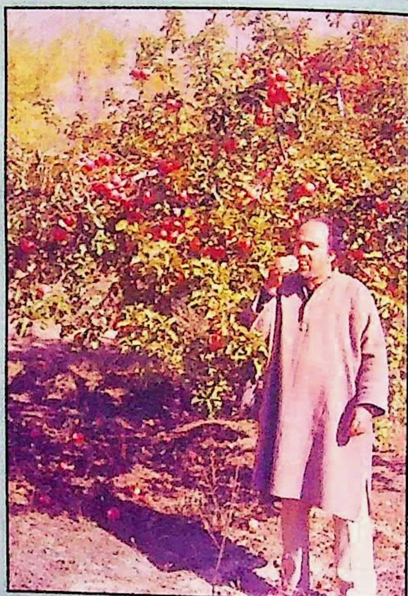


बादाम का पेड़



चिनार के पेड़





सेब के बाग



सरसों के खेत



कमल का फूल

चबूतरा होता था। इस पर समावार, खान पान का सामान रखते थे और मां खीर भवानी के प्रांगण में, दिन बिताते। मां खीर भवानी के प्रांगण में एक चिनार टूट कर खत्म हो चुका था। चिनार के पत्ते के चित्र की अपनी ही शोभा है। इन पत्तों का आकार प्रत्येक शिल्पकला में प्रयोग किया जाता है। जैसे अखरोट की लकड़ी का सजावटी सामान, तांबे, चान्दी के बर्तनों पर चिनार के पत्ते के आकार की खुदाई की जाती थी। कढ़ाई में चिनार के पत्ते का आकार बनाया जाता है।

बादाम के पेड़

बादाम कश्मीर का मेवा है। बादाम का पेड़ मध्यम आकार का पेड़ होता है। बादामों के बाग होते थे। उसे 'बादामवारी' कहते थे। कश्मीरी जीवन के साथ–साथ बादाम हमारे अभिन्न अंग बन गये। पतझड़ के बाद, बादामों के पेड़ों पर फूल आते हैं। उसे 'बादाम फुलय' कहते हैं। अत्यन्त सुन्दर, उस समय आम तौर पर हम लोग पिकनिक मनाने जाते थे। बादाम के पेड़ के नीचे मस्ती किया करते थे।

बादाम की गिरी कहवे, में डाली जाती है। इसे औषधि के रुप में भी इस्तेमाल करते हैं। बादाम को हमारे समाज में शुभ शगून माना जाता था। हम अपने सगे सम्बन्धित को बादाम तोहफे के रूप में देते थे। बड़े लोग अपने बच्चों को, छोटों को आर्शीवाद देकर बादाम की गिरियां हथेली पर रख देते थे। वधू अपने मायके से बादाम को शगून के रूप में दहेज के साथ अवश्य लाती थी। बादाम, खाने–पीने की वस्तुओं में जैसे, कहवा, खीर, दहीं, चावल, बिरियानी में डाले जाते थे। बादाम का तेल, बादाम रोगन, मालिश के लिये और दवाईयों व अन्य चीजों में भी इस्तेमाल किया जाता था।

कच्चे बादाम की गिरियां भी बहुत स्वादिष्ट होती थी। कच्चे बदाम को तोड़ कर गिरी निकाल कर, उसे छील कर खाते थे। मेरी सासू जी कच्चे बादामों का आचार डालती थी। कश्मीर में इसका बहुत प्रचलन था।

अखरोट 'डून्य'

कश्मीर में अखरोट की बहुत महिमा थी। कश्मीर में अखरोट के बड़े बड़े बाग होते थे। हमारा ननिहाल, 'लोदुव' गांव में था। हमारे मामा जी के पास

सेबों के बाग, केसर के खेत और बड़े बड़े अखरोटों के पेड़ थे। सन् 1982 में हम वहां एक हफ़ता रहे, हमने वहाँ के सारे नजारे देखें। वे सब मुझे तक याद हैं। पलायन के बाद उन सबका, सब कुछ 'लोदुव' में ही रह गया, और वे लोग जो करोड़ो की सम्पत्ति के मालिक थे, आज जम्मू में छोटे से घर में रह रहें हैं।

कश्मीर में अखरोट की बहुत धार्मिक महिमा भी थी। हम इसे प्रत्येक पूजा मे इस्तेमाल करते थे। सूखे अखरोट को पानी के मटके मे डालकर, उसे कलश का रूप दिया जाता था। उसे 'कलश' पूजा में प्रयोग किया जाता था। 'कलश' पूजा हमारी पारम्परिक पूजा थी, जैसे शिवरात्रि, यज्ञ (हवन), यज्ञोपवीत, म` त्यु के बाद ग्यारवा, बारहवां दिन, छिमाही 'षड़मोस', सालाना 'श्राद्ध' के दिन किया जाता था। यह पूजा विधि पूर्वक, हमारे गुरू जी कराते थे। पूजा के बाद भीगे अखरोट से जल की छीटें सब भक्तजनों पर डाली जाती थी। उसे 'कल्शलव' कहते थे। इसे भगवान की अनुकम्पा माना जाता था।

कच्चे अखरोट का प्रशाद–भीगे अखरोट, हर पूजा के बाद प्रसाद के रूप में बांटे जाते थे, यह अपने प्रिय जनों को प्रसाद के रूप में दिये जाते थे। यह प्रथा अभी भी चल रही है।

कच्चे अखरोट की गिरी–बहुत स्वाद होती थी। कच्चे अखरोट को दो फाड़ करकें, उसे चाकू से गोल गोल खुरचने के बाद गिरी निकाली जाती थी, गिरी को छील कर खाया जाता था।

कच्चे अखरोट–के बाहर हरा छिलका होता है। उससे हम बचपन में दाँत साफ करते थे, तो हमारे होठं लाल हो जाते थे, और हम बहुत खुश हो जाते थे।

अखरोट का पेड़–एक विशालकाय पेड़ होता था। इसकी लकड़ी बहुत नरम होती था। इसकी लकड़ी में नकाशी बहुत आसानी से होती है। कश्मीर में अखरोट की लकड़ी का फर्नीचर, और सजावट का सामान और कश्मीरी शिल्प कला की वस्तुएं बनती है। इसकी लकड़ी पर बड़े सुन्दर बेल, बूटों की नकाशी की जाती है। इसमें दीमक नहीं लगती। अतः यह सामान वर्षो तक चलता है। अखरोट की लकड़ी के सामान की अर्न्तराष्ट्रीय बाजार में बहुत कीमत है।

पारद डून्य–'वंशव्रद्वी अखरोट' कश्मीरी विवाह में फेरों के समय, पिता अपनी पुत्री के पल्लू में अखरोट डालता है। वह अखरोट वधु अपने ससुर जी को देती है। ससुर जी उसे स्वीकार करते हैं। यह अखरोट देकर पिता अपनी पुत्री को वंश व ॅद्धि का आर्शीवाद देता है। उन दिनों इन अखरोटों को ससुर घर जाकर अपने खेतों में बो देते थे तांकि उनके नये पौधे फूट सकें।

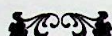
कश्मीर के फल

'त्रेल' छोटा सेब, यह बड़ा लोकप्रिय फल होता था। वहां बाज़ार में फल बेचने वाला 'क्रेजुल' बैंत की टोकरी में 'त्रेल' छोटे सेब रख कर, ग्राहकों को लुभाने के लिए आवाज़ें मारते थे 'त्रे त्रख त्रेल' त्रेन आनन' यानि तीन किलो (आधुनिक माप दण्ड) छोटे सेब तीन आने में। प्रत्येक शब्द में पहले 'त्र' शब्द का प्रयोग होता था। इन शब्दों को बार–बार एक ही सांस में बोलना कठिन होता था, परन्तु वह 'त्रेल' बेचने वाला बार–बार चिल्ल कर आसानी से बोल सकता था।

अन्य फल इस प्रकार थेः–

'टंग'	–	नाशपाती
बबुगोशा	–	बबुगोशा
चेरी (छोटी)	–	गिलास
बड़ी चेरी	–	डबल गिलास
लाल, काले शहतूत	–	शहतूत
ॲर	–	आडू
च़ेरि	–	खुमानी
नील बादाम	–	कच्चे बादाम
पंबच्छ	–	कमल के फूल के बीज
गयंर	–	सिद्याड़ा
अलिचि	–	यह छोटे–छोटे जामुनी रंग के फल होते थे इनकी बीज निकालकर कूटकर चटनी बनती थी जिसे बड़े शौक से खाया जाता था।

पंजेब ग्यॅर	–	केशूनट
पंबच्छ	–	कमल के फूल से मिलती थी।
हापत मेवा	–	जंगलों में लाल रंग का फल बच्चे चाव से काट कर खाते थे।
नील डयून	–	कच्चे अखरोट की गिरी बहुत स्वादिष्ट होती थी।
दँयन	–	परन्तु इसका स्वाद भी बाकी अन्तरें से से अलग ही होता था।





साधना पर्व एवं उत्सव



कश्मीरी समाज एक आध्यात्मिक समाज था। पूजा और पर्व आपस में बंधे हुए थे। हमारे पूर्वजों में बहुत भक्ति भाव था। सुबह उठकर पर्बत की परिक्रमा करते। वहीं पूजा अर्चना कर, वे अपने घर के पास के मन्दिर में पूजा करते। वहां से वापिस आकर ठोकुर कुठ' में ठाकुर जी की पूजा करते। यह उनका प्रतिदिन सुबह का नित्य कर्म था।

शिव साधना का हमारी संस्कृति में प्रथम स्थान था। शिव शक्ति का बहुत आदर था। प्रत्येक मंदिर में शिव लिंग अवश्य होता था और उस पर जल, दूध, दहीं, फूल चढाये जाते थे। दहीं, दूध, दीप, फलों से पूजा अर्चना की जाती थी।

शिवरात्रि

शिवरात्रि हमारा सबसे बड़ा धार्मिक त्योहार था। इसे 'हेरथ' भी कहते हैं। पठानों के राज्य में कश्मीरी पंडितों के ऊपर फरमान लागू हो गया था, कि वे शिवरात्रि फरवरी–मार्च के बदले में आषाढ़ यानि जून–जुलाई में मनाये। परन्तु प्रभु का प्रकोप ऐसा हुआ कि, जून–जुलाई में जिस दिन शिवरात्रि का त्योहार मनाना था, भयंकर तूफान आया, उस दिन बर्फ पड़ी और मौसम वही बना जो फागुन में होता था। अतः पठान हैरान हो गये, तो उन्होंने इस पर्व का नाम 'हेरयथ' रख दिया। फरमान वापिस ले लिया गया, और शिवरात्रि फागुन में ही मनाई जाने लगी।

यह त्यौहार पंद्रह दिन चलता था। फागुन के पहले कृष्णपक्ष में शुरू होता था और अमावस को खत्म होता था। कहा जाता था कि अब शिशिर का अन्त हो गया है, और ग्रीष्म ऋतु आने को है। यह भी प्रथा है, कि इस दिन, शिव और पार्वती का विवाह मनाया जाता था। पहले दिन को 'हुरओग्दोह' कहते थे। जिस दिन से घर की सफाईयां शुरू की जाती थी।

घर, रसोई लीपी जाती थी। पुराने कपड़े निकाले जाते थे, पुरानी हांड़ी, मिट्टी के बर्तन कांगड़ी सब कुछ निकाल कर बदला जाता था।

'हुरअठम' आठवें दिन, हरि परबत, पोखिरबल, खीरभवानी आदि जगहों पर पूजा अर्चना, कीर्तन किये जाते थे। 'दरिया धाम' के दिन वधू अपने मायके जाती थी। वहां सिर धोकर नहा कर, जिसे 'पोन्यलधुन' कहते थे, वापिस आती थी। वह अपने साथ, उपहार, शगून, दहीं, साड़ी 'अतगत' (पैसे) और नई कांगड़ी, आदि अपने ससुराल की भेंट के लिए लाती थी। जिसे 'हेरच़भोग' कहा जाता था। यह सब खुशी और उल्लास के पल होते थे। तील अष्टमी के दिन सब पुरानी कांगड़ी, पुराने बर्तन कपड़े आधि नदी किनारे जला दिये जाते थे जिसे जतूं तूं कहते थे और मिट्टी के बर्तनों को फेंक दिया जाता था।

मछली इस पर्व की विशेष व्यंजन थी। इसे शौक से बनाया जाता था। धीरे धीरे कश्मीरी समाज की प्रवृत्ति बदलने लगी, तो कई लोग शाकाहारी बने, और कई मांसाहारी। फिर मांसाहारी ही मछली बनाते थे। उस दिन को 'गाड़काह' कहते थे। यह, इस पर्व के शुरु का ग्यारवां दिन होता था।

'वागिरबाह'

वागिरबाह सबसे महत्त्वपूर्ण दिन माना जाता था। इस दिन शिव जी की पूजा होती थी। मिट्टी के घड़ों में अखरोट, और पानी भर कर पूजा स्थल सजाया जाता था। इन का क्रम इस प्रकार होता था, पहला कलश जो शिव का रूप माना जाता था, दूसरा मिट्टी का छोटा घड़ा या गड़वी, वह पार्वती, तीन 'सनिवारि' और तीन 'श्रिृष डुलिजि' यानि शिवजी के द्वार पाल। इन सब पात्रों को 'बटुक' कहा जाता था। इन पर सिंदुर से ॐ लिख कर, गैंदे के फूलों की माला से सजा कर चान्दी के वर्क के चान्दी लगाये जाते थे।

यह पूजा शाम को आरम्भ होती थी, और घर का बड़ा व्यक्ति उपवास रखता था। फिर सब पूजा में सम्मिलित होते थे। इस पूजा में शिव लिंग की स्थापना, धरती और चारों दिशाओं की पूजा, यजमान अपनी पूजा, अग्नि पूजा, जो हवन के रुप में होती थी, शामिल थे। अन्त में 'अनकन' पूजा पित्रों और देवताओं की जाती थी। योन्या (जनेऊ) का बहुत महत्त्व होता था। पित्रों की पूजा के समय योन्या यजमान बाईं तरफ रखता था, और देवताओं की पूजा के समय दाई तरफ। पूजा के बाद घर में बने पकवान का भोग लगता

था, जो केवल 'ऋषि डुलिजि' में डाला जाता थ। पूजा के बाद वह भोग खाने के साथ सब की थाली में बांटा जाता था और कलश में से अखरोट निकाल कर 'कलशलव', जल के छींटे देते थे, जिन्हें भगवान शिव की कृपा माना जाता था। यह जल सब परिवारजनों पर बरसाया जाता था। एक आनन्द की अनुभूति होती थी, और फिर अखरोट और चावल के आटे की रोटी का प्रशाद दिया जाता था। अगले दिन सुबह और शाम को 'वटुक' की पूजा होती थी। प्रतिदिन बटुक का जल बदला जाता था, और धूप दीप से पूजा अचर्ना की जाती थी। कोने में दीप की अखण्ड ज्योति जलती रहती थी। अमावस के दिन, फिर चावल के आटे की रोटी का भोग लगा, 'कलश लव' और अखरोट और रोटी का प्रसाद बांटा जाता था। 'वटुक' का जल और 'निरमाल' (पूजा का जल) नदी में प्रवाह किया जाता था।

पूजा के बाद सब को 'हेरच़' खर्च उपहार के रूप में पैसे मिलते थे। जो सब अपने से बड़ों से उत्साह से लेते थे। पूजा के दिनों में सब लोग कौडियों (हारं) के साथ खेलते थे। हार जीत पर एक दूसरे से पैसे लेते थे, और उत्साहित होते थे। शिवरात्रि के अखरोट अपने रिश्तेदारों, मित्रगणों और पड़ोसियों को बांटे जाते थे। इस प्रकार हमारा यह पर्व सम्पन्न होता था।

जन्म अष्टमी

जन्मअष्टमी श्री कृष्ण जी का जन्म दिन है। यह भादों मास की अष्टमी को मनाया जाता था। इस पर कश्मीरी समाज की बहुत आस्था होती थी। लोग दिन भर उपवास रखते थे। उपवास में अन्न नहीं खाते थे, परन्तु तले हुए आलू, सिंघाड़े के आटे के पकौड़े, पूरी और हलवा आदि इस्तेमाल किया जाता था, जो सारा परिवार भी शौक से खाता था। इस दिन कृष्ण जी की पूजा की जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति मंदिर जाता था। जहां श्री कृष्ण जी का झूला और बाल कृष्ण सजाया होता था। कई लोग घर में भी बाल क़ृष्ण का झूला सजाते थे और पूजा करते थे।

'जेष्ठ अष्टमी'

'जेष्ठ अष्टमी' यह जेष्ठ महीने के शुक्लपक्ष की अष्टमी को मनाया जाता था। इस दिन की महिमा बहुत मानी जाती थी। इस दिन खीर भवानी में पूजा करने लाखों लोग जाते थे। वहां मां के आंगन में पूजा करते थे, 'कन्द',

'मूल', 'ब्यने' 'नाग' (चश्मे) को अर्पित करते थे। 'रतन–दीप' से आरती उतारते, और शाम को सामूहिक आरती, हाथों में 'रत्नदीप' लेकर, गौरी के गुण–गान के रुप में होती थी। यह एक आलौकिक दृश्य होता और इस समय भक्ति का 'आनन्द' चरम सीमा पर पहुँच जाता।

'नवरेह' नवरोज़

सप्त ऋषि के अनुसार, और चन्द्र कलैण्डर के मुताबिक, वर्ष के प्रथम दिन को नवरेह कहते थे। यह नवरात्रों का प्रारम्भ दिन भी होता था। इस दिन को सब से शुभ माना जाता था। पिछली रात को एक थाली में सूखे चावल, जन्त्री, चीनी, चाय, दहीं, नमक, कलम, दवात, अंगूठी (सोने की कोई चीज़) पैसे, फूल, अखरोट, विष्णु पार्वती की छोटी सी मूर्ति रखी जाती थी। सुबह उठ कर घर का कोई भी सदस्य, इस थाली को उठा कर प्रत्येक सदस्य के पास ले जा कर उन्हें उसके दर्शन करवाता, और इसे देखकर नये वर्ष की शुभ–कामना के लिए प्रार्थना की जाती थी। नव वर्ष शुभ रहे। इस थाली के चावलों के पीले चावल 'तहर' बनाई जाती जो पूरे परिवार में बांटा जाती थी। थाली सजाने का अर्थ यह है कि जो वस्तु उसमें सजाई जाती है वह समृद्धि की निशानी है। पूरा वर्ष भरपूर मात्रा में मिलता रहे।

नवरेह वाले दिन नये कपड़े पहने जाते थे, और हरीपरबत पर जाकर, पूजा अचर्ना की जाती थी। उस दिन, निशात, शालीमार, चश्मेशाही, जैसी जगहों पर पूरा परिवार, पिकनिक मना कर, उल्लासपूर्ण दिन व्यतीत करता था।

महानवमी

महानवमी के दिन पूजा अचर्ना की जाती। यह नवरात्रों के बाद नवमी का दिन होता था। इस दिन 'तहर चरवन' कलेजी और पीले चावल का भोग लगता था। इस उत्सव (लक्ष्मी पूजन) पर्व पर हरिपरवत, दुर्गानाग, आदि जगह पर पिकनिक और पूजा अर्चना करने का कार्यक्रम किया जाता था।

चित्र नवमी

यह चेतमाह के नवरात्रों के बाद की नवमी को मनाई जाती थी। इस दिन भी महानवमी की भान्ति पूजा अर्चना की जाती थी। इस दिन भद्र काली के मन्दिर में, जो कुपवारा जिले में स्थित है वहां पूजा की जाती और मेला लगता था।

'वास्तुपूजा' 'गाडबतु'

यह एक और पर्व होता था। जिस दिन ग्रह देवता की पूजा की जाती थी। ग्रह देवता को चावल और मछली का भोग लगता था। उससे घर की सुख शांन्ति मांगी जाती थी।

'खेचिमावस'-खिचड़ी की अमावस

यह पोष के महीने की अमावस के दिन मनाया जाता था। उस दिन मूँग के दाल की खिचड़ी, और मछली बनती थी, और अन्य पकवान बनते थे। इस पर्व वाले दिन एक थाली में खिचड़ी भर कर बाहर आंगन में रखी जाती थी। कहा जाता था कि यक्ष आकर इस भोजन को खायेगा। फिर वह थाली रात भर वहीं पड़ी रहती थी। परिवार के सदस्य उस दिन सामूहिक भोज, खिचड़ी और मछली का आनन्द लेते थे। इस दिन माना जाता था बुरी आत्माओं को दूर भगाने के लिए यक्ष देवता की पूजा की जाती थी।

हार सतम

यह आषाढ की सप्तमी को मनाई जाती थी। इस दिन पूरे घर में, सात जगह कई रंगों से रंगोली सजाई जाती थी। इस हारंसप्तमी को सूर्य देवता की पूजा की जाती थी, उपवास रखते थे और शाम को भोज होता था। रंगोली सात दिन रखी जाती थी।

'सत्यदीव'-सत्यनारायण का दिवस

यह पूरे वर्ष में किसी भी शुभ दिन को मनाया जाता था। सत्यदीव, अपने मन की अराधना, प्रभु को अर्पित करने के लिए मनाया जाता था। इस दिन, मीठे पूर बनाये जाते थे, और फिर सत्यनारायण की कथा, गणेश पूजा की जाती थी। यह सत्यदीव, संक्रांति, पूर्णमासी, माद्य पूर्णिमा, मंगलवार, शनिवार को मनाया जाता था। पूजा करने के बाद मीठे 'पूर' और कहवा परिवार में बांटे जाते थे। 'पूर' अपने मित्रगण या रिश्तेदारों के घर भी प्रसाद के रूप में वितरण किये जाते थे।

श्रावण पूर्णिमा

यह अगस्त में श्रावण पूर्णिमा के दिन, जिस दिन उत्तर भारत में राखी का

दिन होता है, उस दिन मनाई जाती थी। श्रावण पूर्णिमा के दिन अमरनाथ यात्रा का दिन भी होता है। इस दिन अमरनाथ जी के दर्शन किये जाते हैं।

श्रीनगर में श्रावण पूर्णिमा के दिन, लोग उपवास रखते थे, और वे शंकराचार्य मंदिर में उपासना करते थे। शंकराचार्य मन्दिर में उस दिन मेला लगा करता था। हज़ारों श्रद्धालू उस दिन शिव की आराधना, धूप दीप जलाकर, दूध, दहीं, फूल, शिवलिंग को अपर्ण करते थे, और घर वापिस आते थे। श्रावण पूर्णिमा के दिन मेला लगता था। उसमें खिलौने, फल आदि बेचने वाले बैठे होते थे। एक गोदने वाला भी बैठा होता था। जिससे लोग अपनी बाहों में ॐ या नाम गुदवाते थे। मेरी भी यादें हैं। मेरी बाजू में ॐ गुदा हुआ है, जो श्रावण पूर्णिमा में, शंकराचार्य मन्दिर की देन हैं। इस पर्व के दिन फलाहार किया जाता था। बबुगोशा जो काश्मीर के फलों की रानी मानी जाती थी, उसका प्रयोग बड़े चाव से होता था।

मासिक वर्त एवं पर्व

एकादशी, अमावस, अष्टमी, प्रत्येक मास में मनाई जाती थी। घर के व्यक्ति इस दिन उपवास रखते थे। उपवास में एक समय भोजन करते थे। जो परम्परागत ढंग से बनता था, और खाया जाता था। उस दिन तले आलू, नमक, मिर्च लगा कर, दहीं के साथ खाने के लिए पूरे परिवार को भी इन्तजार रहता था।

दीपावली, दशहरा, रक्षाबन्धन, लोहड़ी, करवाचौथ, यह सब त्योहार काश्मीर में नहीं मनाये जाते थे। उत्तरी भारत और कश्मीर के बीच के बनिहाल पहाड़ के होने के कारण सम्पर्क कम होता था अतः इन सब प्रथाओं का असर कम हुआ। 1947 के बाद काश्मीर के, भारत में सम्मिलित हो जाने के बाद, उत्तरी भारत और काश्मीर में आवाजाई बढ़ गई, तो त्योहारों का असर पड़ा। रक्षाबन्धन, दीवाली, दशहरा, होली आदि भी मनाये जाने लगे।

'पन', गणेश चतुर्थी

पन एक ऐसा पर्व था, जिसमें मीठे रोट बनते थे और उनकी पूजा की जाती थी। पन के साथ एक लोक कथा थी, एक राजा जिसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी, उसने पन देवता का अनादर किया, और वह भिखारी बन गया। फिर

उसकी पत्नी ने बहुत कष्ट झेले और पन की पूजा की कामना की। तबेले में से उसने गोबर लिया। उसे धोया, उसमें से गेहूँ के दाने निकले। उन्हें सुखाया और आटा पीस कर, उसमें शक्कर डाल कर रोट बनायें। उनकी पूजा की। उसके पास फूल आदि भी नहीं थे। उसने रुईं को तकली से काता और उसे माला के रूप में उपयोग किया। उसे गड़वी के गले में बांधा। उसमें पानी रखा और उसे देवता का स्वरुप दिया। उसके पास अर्चन करने को फूल भी नहीं थे, तो हरी घास को धो कर, चावल के दाने डाल कर उससे पूजा की और पन देवता को अर्पित किया। आटे के रोठ सोने के बन गये, फिर उनका, लुटा राज्य वापिस मिल गया। अतः हमारे समाज में घास की महिमा बहुत मानी जाती थी। इसे पूजा का आधार माना जाता था।

''दोख्ठ दियुन'', गोद भराई

हमारे समाज में भी गोद भराई की रस्म किया करते थे। वधु के गर्भ के सातवें महीने अपने मायके जाती थी। उसके वापिस आने के लिए मुर्हुत 'साथ' देखा जाता था। वह मां बाप के घर से विदा होती थी।

वधु के ससुराल पहुँचने पर घर के ब्रांद पर पानी की घड़वी से 'आलत' (पानी वारना) उतार कर दहलीज के अन्दर लायी जाती थी। मां बाप उसके साथ नये कपड़े, डेज़होर, अटहोर, शगून के पैसे, दूध, सजी हुई दहीं, मट्ठियां भेजते थे। जो रिश्तेदारों और मित्रगणों में बांटी जाती थी और प्रीति भोज होता था।

जन्मउपरान्त विधियाँ एवं पर्व

बच्चे के जन्म के उपरान्त बहुत परम्परागत विधियों का प्रयोग होता है। सारा महीना जच्चा को उबला पानी पिलाया जाता था। मिर्च मसाले, दहीं, फल खाने को नहीं देते थे। भोजन में चावल और मीट के सूप की प्राथमिकता होती थी। तिल्ली और कलेजी भून कर या तल कर दी जाती थी, क्योंकि कहते थे कि इसमें रक्त बनने का पौष्टिक आहार होता है।

ग्यारवें दिन पारम्परिक नहाना होता था। अगले दिन नामकरण प्रथा होती थी जिसे 'सोन्दर' कहते थे। गृहणियां 'भुर्ज मेट' निकालती थी, लड़का हो या लड़की हो दोनों का नामकरण होता था। 'कहानेथर' चूड़ाकरम। इस में हवन होता था। पूरा परिवार और रिश्तेदार सम्मिलित होते थे। यह हवन

सुबह से शाम तक महा यज्ञ की तरह होता था। बच्चे के लिए ननिहाल से तोहफे और शगून तक आते थे। यह एक उल्लासप्रिय प्रथा होती थी और प्रीति भोज होता था।

अन्नप्राशन

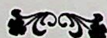
इस दिन छे महीने के बच्चे को अन्न खिलाया जाता है। मां बच्चे को नहला धुला, नये कपड़े पहना, बच्चे की बूआ, किशमिश, बादाम गिरी, छुहारे, डालकर बनी खीर, चांदी के चम्मच से चटाती हैं और अपनी सामर्थता के अनुसार प्रीति भोज करते हैं। वधु के मायके से बच्चे के लिए नये कपड़े खीर खिलाने के लिए चांदी की कवली, गिलास, चम्मच, दहीं, मट्ठी भेंट में आते हैं।

'ज़रकासय' बाल कटवाने

यह भी परम्परा के अनुसार महूर्त्त देख कर होता था। लड़कों और लड़कियों दोनों के बाल काटने की प्रथा की जाती थी। लड़के को गंजा कर देते थे और उसके बाल किसी पेड़ के नीचे दबा देते थे, परन्तु लड़की के बाल थोड़े से काटे जाते थे उन्हें भी दवा दिया जाता था। यह भी एक उत्सव की भान्ति होता था और सामर्थता के अनुसार इसे मनाया जाता था।

शिशुर

शिशुर माघ के महीने में सर्दियों में मनाया जाता था। जिसमें नई दुल्हन या नवजात शिशु को शिशुर भोग लगाया जाता था। कांगडी में इसबन्ध जलाते थे। उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलती थी। दुल्हन या नवजात शिशु को नये कपड़े पहना बीच में बिठाया जाता था। उनकी नज़र उतारी जाती थी। कांगडी मध्य में रखी जाती थी। उसमें सब शगून डालते थे। मछली चावल का भोग लगता था। प्रीति भोज होता था। दुल्हन के मायके वाले कपड़े, शगून के पैसे और अटहोर भेजते थे।





धर्मस्थल



कश्मीरी पंडित आध्यात्मिक प्रवृत्ति होने के कारण, धार्मिक प्रवृत्ति के थे। पुरानी पीढ़ी धार्मिक विचारों में विश्वास रखती थी। अतः असंख्य धार्मिक स्थल बने। इन स्थलों में से प्रमुख स्थल खीर भवानी, श्रेष्टा देवी, चक्रीश्वर, परबत, 'खिव,' शंकराचार्य अमरनाथ जी बहुचर्चित जगह हैं। कश्मीर में मुस्लिम और सिक्ख समुदाय भी होने के कारण, मुस्लिम धर्म के स्थान, हजरत बल दरगाह, अषिपीर दरगाह और छठी पातशाही काठी दरवाजा, गुरुद्वारे में भी काश्मीरी पंडितों को आस्था रही। इन सब जगहों में जाने में कोई भेदभाव नहीं होता था। वे प्रत्येक स्थान पर आस्था लेकर जाते थे और वहां के रीति रिवजों के अनुसार पूजा अर्चना करते थे, और प्रभु से अनुकम्पा की कामना करते थे।

खीर भवानी 'तुलमुल'

कश्मीर में खीर भवानी हिन्दू समाज का सबसे बड़ा धार्मिक स्थल है। यह शहर से 25 कि. मी. दूर तुल्लामुला गांव में है। वहां पर एक प्राचीन 'नाग' (चश्मा) है जिस में रागिनी देवी का मन्दिर बना हुआ है। यहां पर विशाल प्रांगण है, जहां चिनारों के पेड़ों की छांव है। नाग का जल, निर्मल है। यह जल, हल्के हरे या नीले रंग का होता था। कहते हैं कि जब मानव की त्रासदी होती है, तो नाग के जल का रंग बदलता है। यहां पर प्रांगण के चारों ओर धर्मशालाएं, यज्ञशालायें बनी हुई थी। पीछे सिन्धु नदी की एक धारा बहती थी, जिसमें डोंगे और शिकारे चलते थे। प्रांगण के एक तरफ हलवाईयों की दुकाने थीं, जो भक्तों को वगुव, बर्तन, धूपबत्ती, कन्द, रतनदीप, नैवंध्य, दूध बेचते थे और बाद में उन्हें 'लुच्ची' 'कहवा', 'नंदिरमंज' (कमल ककड़ी के पकौड़े) के साथ जलपान कराते थे। भक्त जन अपना सामान हलवाई के पास रख कर, बहती नदी की धारा, जिसे 'लकुट गंगा' कहा जाता था, में नहाते थे। पुरुषों और स्त्रियों के नहाने के घाट

अलग–अलग बने होते थे। नहाने के बाद गेट पर ही 'वैनं' के पत्ते और फूल बेचने वाला बैठा होता था, उससे वैनं और फूल खरीद कर, हलवाई से पूजा की सजी थाली लेकर, मां भवानी के मंदिर की ओर, पूरा परिवार जाता था। वहां गुरू जी पूजा करवाते थे। नाग में दूध, फूल, 'व्यनं' और कन्द को अर्पण कर, रतनदीप से मां भवानी की आरती करते थे। गुरु जी हाथ में घंटा बजाकर अपने आध्यात्मिक मन्त्रों से मां का गुणगान गाते थे। भक्तजन भाव विभोर हो, अश्रु कण आंखों में ले, मां से अपने जीवन के लिए अनुदान मांगते थे। पूजा के बाद गुरू जी नैवध्य देते थे और भक्त जन उन्हें दक्षिणा दें, मां के प्रांगण में आकर 'नाग' चश्में की परिक्रमा करते थे। मां के पूर्व की तरफ असंख्य दीप जला कर ॐ बना देते और पूजा अचर्ना करते थे।

पूजा के बाद चिनारों के नीचे बैठ कर, रात तक पूरा परिवार पिकनिक मनाया करता था। यहां पर कुछ भक्त जन कई कई दिन भी रहते थे। यहां सामूहिक परिवार यज्ञ करने के लिए भी आते थे। भजन मंडलियां भजन गाया करती थीं। श्रेष्ठ अष्टमी के दिन यहां वार्षिक मेला लगता था। असंख्य लोग यहां सारा दिन मां के आंगन में आस्था लेकर, आते थे। दीप, धूप नैवेध्य से पूजा करते थे। शाम को असंख्य दीपों की आरती होती। लोग ऊँचे स्वर में गौरी का गुणगान करते और ऐसा लगता था कि यह सामुहिक गुणगान के स्वर ऊपर आकाश के अनगिणत चाँद तारों तक भी पहुँचते होंगे, और वे भी हमारी इस आरती में सम्मिलित होते होंगे।

जेष्ठा देवी 'ज़ीठयंर'

यह मां भवानी का मन्दिर है। यह श्रीनगर शहर से 15 कि. मी. दूर डल झील के पास है। चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा मंदिर यह एक पहाड़ी पर स्थित है। इस मन्दिर में कश्मीरी पंडितों की बहुत आस्था थी। यहां पर वे प्रत्येक अष्टमी को पूजा अर्चना करने आते थे। यहाँ पर धर्मशालायें भी बनी हुई थी, जहां पर भक्त जन रहते थे और माता के दरबार में हवन भी करते थे।

यह मन्दिर भी एक 'नाग' चशमे में स्थित हैं। यहां का निर्मल जल नीले रंग का है। इस में कन्द (मिष्ठान) फूल, दूध अपर्ण किये जाते थे, और रतन दीप जलाये जाते थे। मंदिर के बाहर शिवलिंग था जिस पर दूध या जल



तुलामुला पुरातन चित्र



तुलामुला पुरातन चित्र



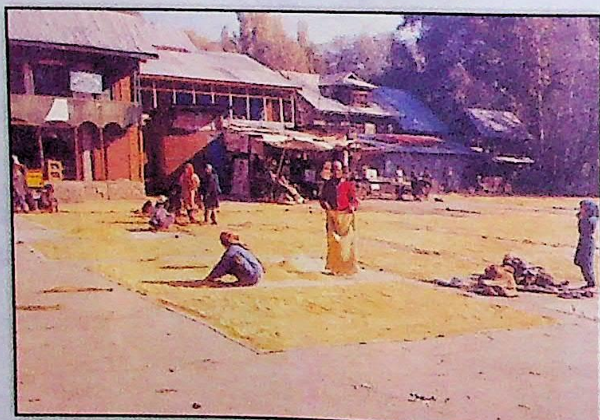
तुलामुला मन्दिर परिसर



तुलामुला माँ भवानी की प्रतिमा



तुलामुला, रतनदीप से ॐ बनाया हुआ 1980



तुलामुला, कार पार्किंग - आतंकवाद से पहले 1980

चढ़ाया जाता था। जेष्ठा देवी का आंगन में थोड़ी दूरी पर एक और मन्दिर था जिसमें बड़ा शिवलिंग है। कहते हैं कि गणपतयार के मन्दिर से लाकर, यहां पर स्थापित किया गया है।

चक्रीश्वर

यह मन्दिर एक पहाड़ी, पर स्थित है। यहां पर सीढ़ियों से चढ़ कर जाना पड़ता था। उसे सरस्वती का रूप भी माना जाता है। यहां रागिणी देवी की बहुत बड़ी प्रतिमा है जो पहाड़ से ही बनी हुई है। यहां लोग भजन कीर्तन के साथ–साथ धूप दीप से अर्चना करते थे। यह एक धार्मिक जगह थी, जहां पर भेड़ का दिल और फेफड़ों को भेंट चढा फिर चीलों को खिलाया जाता था। अतः एक प्रकार की बली दी जाती थी। यहाँ पर 'तंहर' 'ज़र्वन' पीले चावल और कलेजी का भोग लगता था। यहां शहर से चर्क्रीश्वर तक लोग प्रातः रोज ही पैदल आया करते थे और पूजा करके जाते थे। सामूहिक तौर से यहां हवन भी किया करते थे और प्रत्येक त्योहार में मेला लगता था।

शंकराचार्य मंदिर

यह मंदिर दुर्गानाग, और डल गेट के पास एक पहाड़ी पर स्थित मंदिर है। इस मन्दिर में शिवजी का बहुत बड़ा शिवलिंग है। यहां पर श्रावण पूर्णिमा को मेला लगता था। हज़ारों श्रद्धालू इस दिन शिवजी पर जल चढ़ाने आते थे। यह मंदिर एक पहाड़ी पर स्थित है। यहां से पूरा श्रीनगर शहर और डल झील का नज़ारा दिखता है। पहले यहां पर लोग पैदल जाया करते थे, परन्तु बाद में यहां पर सड़कें बन जाने से कार, जीप जाने की सुविधा हो गई थी।

अन्य मंदिर

शहर में अनगिनत मंदिर थे। प्रत्येक मुहल्ले में एक–एक बहुचर्चित मन्दिर होता था। यह मन्दिर आस–पास के लोगों में आस्था के केन्द्र होते थे जैसे सूमयार, रघुनाथ मन्दिर, हनुमान मंदिर, गणपतयार आदि। प्रत्येक पंडित अगर हारी परवत पर परिक्रमा करने न जा सके तो घर के पास वाले मन्दिर में अवश्य जाते थे। यह उनकी सुबह की सैर और पूजा अर्चना का तरीका था।

खिव

श्रीनगर से 45 किलोमीटर दूर यह मन्दिर लोदुव गांव के पास स्थित है। यह मन्दिर एक पहाड़ी की चोटी पर बना हुआ है। मंदिर में जाने के लिए सौ के करीब सीढ़ियों को चढ़ना पड़ता था। यह माता काली का मन्दिर था। यहां पर भी पूजा और पिकनिक दोनों हुआ करती थी। सामूहिक परिवार 'तंहर ज़रवन' कलेजी और पीले चावल का भोग लेकर आते थे। पूजा करने के बाद 'तंहर ज़खन' का भोग लगता था। यहां भी भेड़ का फेफड़े और दिल अर्पित किया जाता था। यह एक प्रकार की बलि की प्रथा थी। फेफड़े और दिल को भेंट चढ़ाने के बाद उन्हें चीलों को खाने के लिए अर्पित किया जाता था। सब लोगों को 'तंहर ज़रवन' का भोग दिया जाता था।

अमरनाथ जी का मन्दिर

यह कश्मीर में हिन्दू संस्कृति का सबसे बड़ा मन्दिर है। यह मन्दिर केवल कश्मीरी लोगों की आस्था का घर नहीं था, अपितु भारतवर्ष के हिन्दू समाज के लिए एक गौरवपूर्ण स्थल है। यहां प्रति वर्ष अगस्त श्रावण की पूर्णिमा के दिन लाखों श्रृद्धालू आते हैं और अमरनाथ जी की गुफा में बर्फ से बने शिवलिंग की पूजा करके भगवान शिव का आर्शीवाद प्राप्त करते हैं।

यह बर्फ का शिवलिंग श्रावण पूर्णिमा के एक महीना पहले से, पानी की बूँद बूँद गिरने से बनना शुरू हो जाता है। फिर एक महीना बाद तक धीरे–धीरे घटना शुरु हो जाता है। अतः श्रद्धालु लोग यह यात्रा श्रावण पूर्णिमा से एक महीना पहले शुरु करते हैं, और एक महीना बाद तक चलती रहती है।

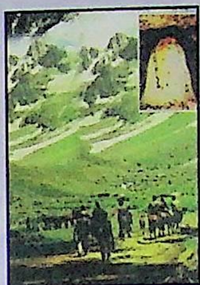
अमरनाथ जी की यात्रा छड़ी मुबारक जलूस के साथ आरम्भ होती है। छड़ी मुबारक दशनामी अखाड़ा के साधु हाथ में चांदी की पवित्र छड़ी को श्रीनगर से लेकर शुरु करते हैं।

पहलगाम तक लोग कारों, बसों, में आते हैं, फिर वहां से चालीस किलोमीटर दूर दुर्गम पहाड़ी का सफर शुरू करके, अमरनाथ जी की गुफा तक पैदल पहुँचते हैं। कई लोग घोड़ो का भी सहारा लेते हैं।

आजकल वहां पर सुरक्षा के पुखता इन्तज़ाम पूरे किये जाते हैं, और यात्रियों की सुख सुविधा के लिए लंगर, कैम्प आदि लगे होते हैं। यह कैम्प



ज्येष्ठादेवी



अमरनाथ

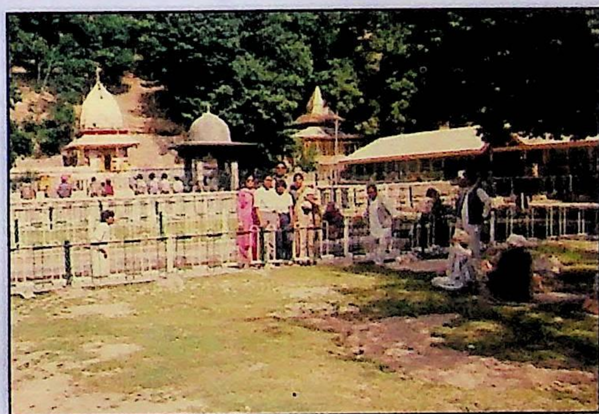




शंकराचार्य



हरिपर्वत



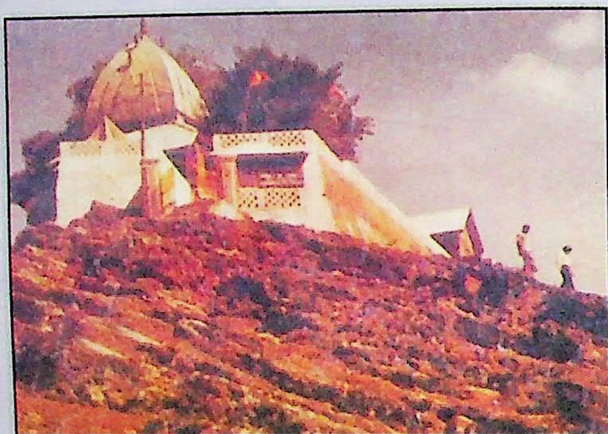
मटन मन्दिर परिसर



ज्येष्ठादेवी - शिव मन्दिर



ज्येष्ठादेवी - शिव मन्दिर



खिव मन्दिर



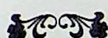
मार्तण्ड मन्दिर भगनावेश अवस्था

और लंगर सरकार की तरफ से और भक्तजनों की सेवा संस्थाओं द्वारा भी लगते हैं। यह सफर कठिन परन्तु आनन्दमय है।

मार्तण्ड-सूर्य मन्दिर

कश्मीर के राजा ललितादित्य (शासन काल 725 ई. से 761 ई. तक) ने भी मार्तण्ड का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर अनन्तनाग से लगभग 7 मील दूर मट्टन की तराई में बनाया था। मार्तण्डेश्वर भव्य मन्दिर 60 फूट लम्बा, और 38 फुट ऊंचा, और 142 फुट चौड़ा चबूतरा था, जिस पर पत्थर के 84 खंम्बे थे। यह 84 खम्बें सप्ताह के सात दिनों को 12, राशियों से गुणा करने पर बनतें है। यह वास्तुकला का एक प्राचीन उदाहरण था। इस मंन्दिर को मार्तण्डेश्रवर कहा जाता है। पत्थरों से बने इस मन्दिर के अन्दर महाराजा ललितादित्य ने सोने का मुल्लमा चढ़वाया था। मुसलमानों के आने पर सुल्तान सिकन्दर 'बुतशिकन' ने इस मंन्दिर को 1420 ई. में तुड़वा कर खण्डहरों मे परिवर्तित किया। इसको तोड़ने के लिए सिकन्दर ने एक वर्ष तक, काम लगवाया और अन्त में इसको पूर्णरूप से ध्वस्तं करने के लिए इसमें लकडी भर कर, आग लगा दी। अब इस मंन्दिर के भग्नावशेषों में एक दो स्तंभ ही उपलब्ध है।

मातंण्ड मन्दिर का चित्र Kalhanais Raj Torangani Chronicle of Kings of Kashmir entitled by M.A. Stein Ph.D. के मुख्य पृण्ठ पर छपा है M.A. Stein ने अपनी भूमिका में भी इसका उल्लेख किया हैं। उसका चित्र Fred H. Andrecurs Erq. Vice Principal of Lahore School of Arts की कलाकृति थी। उसे M.A. Stein ने अपने मुख्य पृण्ठ पर छपवाया था। 1892 में लिखी यह पुस्तक बताती है कि मार्तण्ड सूर्य मन्दिर उस समय भी खण्डरात बन चुका था।



सांस्कृतिक धरोहर उद्योग, शिल्पकला और हस्तकला

पर्यटक उद्योग कश्मीर में सबसे बड़ी उद्योग था। यहीं सबसे बड़ा जीविका का साधन था। आम१ व्यक्ति, किश्ती, हाऊसबोट, डोंगा चला कर या होटल, शिल्पकला, हस्तकला की वस्तुओं की दुकाने सजा अपनी जीविका कमाते थे। कश्मीर में आतंकवाद एवं पहले पयटर्क उद्योग चरम सीमा पर था। भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटकों से कश्मीर के व्यापारी मुंह मांगी कीमत मांगते थे, परन्तु आतंकवाद के कारण पर्यटक उद्योग पर बहुत गहरा असर पड़ा। जीविका कमाने में दिक्कत आने लगी और बहुत से व्यक्तियों को अपनी जीविका का साधन बदलना पड़ा।

दूसरा व्यवसाय था खेती बाड़ी, जिसमें धान, सरसों की उपज, केसर, सब्ज़ियां, वुल्लर और डल झील की उपज से, लोग अपनी जीविका कमाते थे। फल जैसे सेब, नाशपाती, बबुगोशा, चैरी, अनार, यहीं की मुख्य उपज हैं। बादामों, अखरोटों के बाग यहीं की गरिमा है। पयर्टक उद्योग पर आतंकवाद का असर हो जाने से शेष व्यवसाय अभी चल रहे हैं। स्थानिक बाज़ार में मंदी के होने के बावजूद, राष्ट्रीय बाज़ार में, फल अखरोट, बादाम की बहुत कीमत है।

ग्रामीण कश्मीरी पंडित लोग बड़े खेतों के, बागों के मालिक हुआ करते थे। ग्रामीण पंडित लोग अपने खेतों के आस पास घर बनाकर रहा करते थे। वे देखने में ग्रामीण लोग लगते थे, परन्तु वे बहुत अमीर हुआ करते थे। आतंकवाद के कारण, उन्हें अपना घर, बाग, बगीचे, खलिहान छोड़ कर पलायन करना पड़ा और जम्मू के विस्थापित लोगों के शणार्थी कैंपों में रहने लगे। वे लोग आज तक भी पुर्नवास न हो सके।

हस्तकला और शिल्प कला कश्मीर की अत्यन्त लोकप्रिय कला है। इन वस्तुओं का राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में बहुत मूल्य है।

हस्तकला और शिल्प कला, एक लघु उद्योग की तरह है। इसमें, कातना



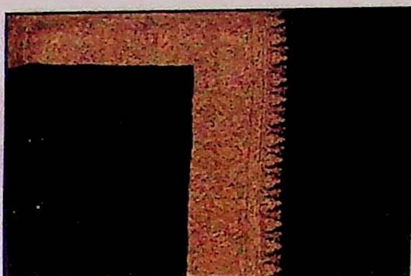
पश्मीना शाल ज़री की कढ़ाई
सन् 1950



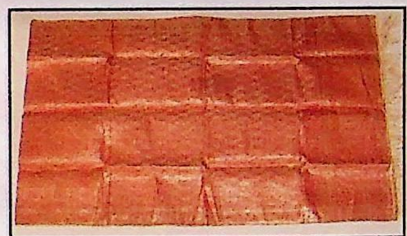
पश्मीना शाल कढ़ाई वाला
दुस्से से बनाया हुआ, सन् 1950



पश्मीने की शाल दुरई कढ़ाई
सन् 1972



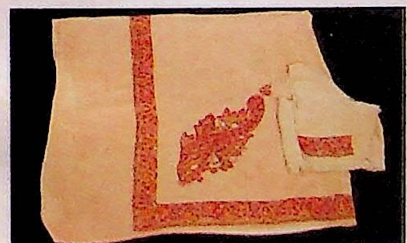
रफल शाल पश्मीना कढ़ाई वाला
सन् 1980



ज़री की लोंगी
सन् 1960



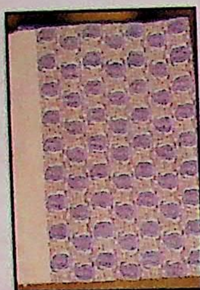
पश्मीने की लोंगी जामवार कढ़ाई
सन् 1968



क्रेप साड़ी - पश्मीना कढ़ाई
सन् 1989



क्रेप साड़ी ज़री का काम
सन् 1989



पश्मीने का
जामवार शाल



अखरोट की लकड़ी
का सजावटी समान



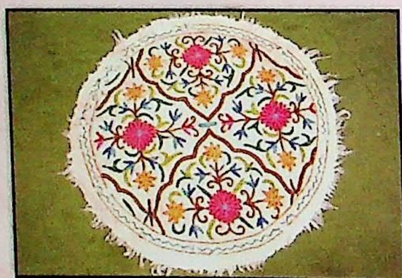
केन की टोकरियां



ऊनी कम्बल



गब्बा - ऊन की कढ़ाई
चेन स्टिच, सन् 1976



नमदा, सन् 1976



क्रिवल - ऊन की कढ़ाई चेन स्टिच



पेपर माशी सजावटी सामान



सजावटी समावार
चिनार के पत्ते गुदे हुए हैं

और बुनना, कश्मीरी कढ़ाई, पश्मीना, कृवल, पेपरमाशी, केन का काम, कम्बल, गब्बा, चमदा बनाना है। यह सब काम घरों में होते हैं। हर घर में कोई न कोई व्यक्ति इस कला को जानता था। कश्मीरी पंडित लोग पढ़ाई और सरकारी नौकरी नौकरी में विश्वास रखते थे। अतः शिल्प कला और हस्त कला की तरफ उन्होंने ध्यान नहीं दिया। यह लघु उद्योग हमारे दूसरे वर्ग की प्राथमिकता रही।

विभिन्न प्रकार के संस्कृति उद्योग इस प्रकार हैं :–

पश्मीना, साड़ी, दुशालें, दुस्सा, कोट, सलवार कमीज़, गाऊन इति।

रफल : शाल, दुशालें, दुस्सा आदि।

कृवल : बैडकवर, परदे, बैग इति।

पेपर माशी : सजावटी समान।

केन का काम : टोकरियां, लैंम्पशेड, फानूस, कांगड़ी के खोल, वाल हैंगिंग और परेदों की लड़ियां।

अखरोट की लकड़ी की सामान : सजावटी सामान, टेबल लैम्प, टेबल, इति।

नमदा : गलीचे के रुप में बना हुआ होता है।

गब्बा : गलीचे की भांति इस्तेमाल होता है।

कालीन : ऊनी या रेशमी कालीन, यहां बनते हैं।

चांदी और तांबे पर नक्काशी

पश्मीना

यह यहां का सोना है। इसकी महिमा विश्व भर में है। पश्मीने को कातना फिर बुनना और उसके शाल, दुशालें, साड़ी और अन्य वस्त्र बनाना यहां की परम्परा रही है और अभी भी है। पश्मीना और उससे सम्बंधित कार्य ने कश्मीर के लोगों को आतंकवाद के कारण पयर्टक उद्योग के उजड़ जाने के बाद हौंसला दिये रखा।

पश्मीना घर घर में काता जाता है। कश्मीरी पंडित महिलायें भी पश्मीना कातती थी। हर घर में चरखा होता था। यह चरखा 'डब' 'कंनी' या 'वोटं' के किसी कोने में सदा बिछा रहता था। बाज़ार में पश्म ऊन लाई जाती थी।

उसमें से बूढ़े बाल निकाल दिए जाते थे। फिर उसकी पोनी बना कर एक टोकरी में मलमल के कपड़े में लपेट कर रखते थे और गृहणी को जब घर के काम के बाद समय मिलता था तो वह पश्मीना काता करती थी। पश्मीने के धागों को खड्डी में भेज कर शाल बनाये जाते थे। जिसे घर में प्रयोग किया जाता था। हमारे कश्मीरी पंडित समाज में लड़की को दहेज़ में पश्मीने के साडी, शाल, 'ट्रंक' में दहेज के लिए 'दुस्सा' होता था। दहेज में यह गिना जाता था, कि इसे कितने और किस प्रकार के शाल दिये गये। वधु के ससुराल आने पर और विभिन्न प्रकार के उत्सव पर जैसे गोद भराई, नामकरण आदि पर भी मायके या ससुराल के पश्मीने के शाल या साड़ी भेंट में मिलते थे। समय का बदलाव आया पश्मीने की साड़ी पहननी समाप्त हुई। साड़ियों के शाल बने।

दुस्सा एक पारम्परिक पश्मीने की बनी दोहरी चादर होती थी। सर्दी अधिक होने के कारण पुरुष लोग इसे अपने चारों ओर लपेट लेते थे। पश्मीने का दुस्सा वैभव की निशानी होती थी। समृद्ध लोग इसे प्रयोग करते थे। बाकी लोग उसे संभाल कर ट्रंक में रखते थे। गर्मियों में धूप देते थे। सर्दियों में किसी उत्सव पर या खास मेहमान के आने पर निकालते थे। मेहमान को गाँव तकिये के सहारे 'बड़े कुंठ' में बिठाते थे। टांगों पर पश्मीने का दुस्सा डाल देते थे और सेकने के लिए कांगड़ी देते थे। इस प्रकार उनकी आवभगत की जाती थी। यह दामाद या किसी अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के लिए किया जाता था।

मेरे दादी जी चरखा कातते थे। वह पश्मीना कातते रहे, और शाल और दुस्सा अपने परिवार के लिए बनाते रहे। मेरे विवाह पर मुझे उनके हाथ का काता हुआ पश्मीने का शाल मिला, जिस पर मेरी मां ने ज़री की कढ़ाई करवाई। मेरे पति को उनके हाथ का काता हुआ पश्मीने का दुस्सा मिला। जिन्हें मैने सम्भाल कर रखा है। हर वर्ष धूप देना, ट्रंक में मलमल के कपड़े में लपेट कर रखना, नस्वार डालना, या नीम के पत्ते रखना, या फिनाईल की गोलियां रखनी ताकि कीड़ा न लग जाये, इस प्रकार उन्हें सम्भालती रही। यह मेरी दादी की दी हुई दुलर्भ भेंट थी। पलायन के कारण पंजाब में उतनी सर्दी न होने के कारण, दुस्से को प्रयोग लगभग समाप्त हो गया। अतः दुस्से के शाल बनाये गये। उस पर पश्मीने की कढ़ाई करवाई गई और उन्हें प्रयोग में लाया गया। दुस्से का वर्णन यहां इसलिए कर रही हूँ कि पश्मीने का



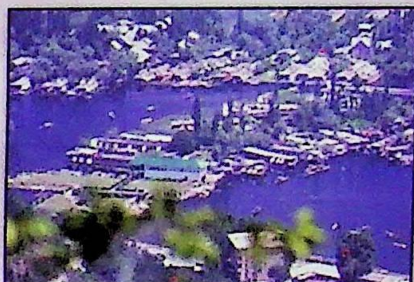
सुबह - डल झील



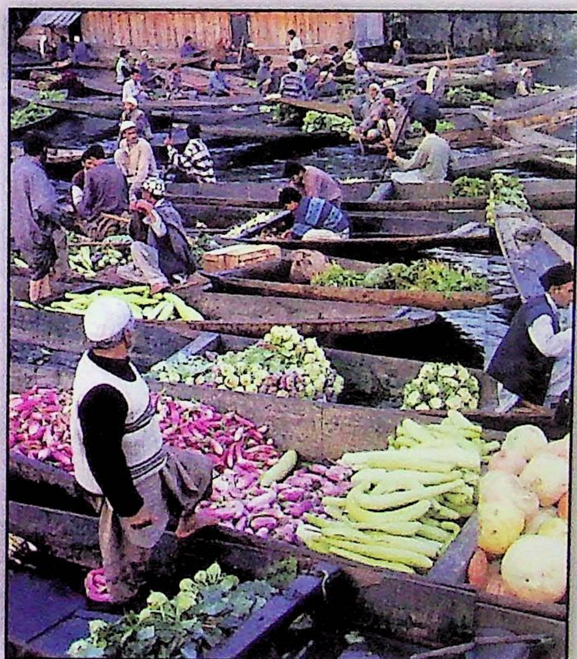
सांझ - डल झील



डल झील - नेहरु पार्क



डल झील - शंकराचार्य से



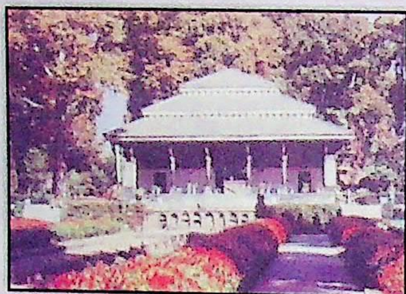
सब्जी मण्डी - डल झील



शालीमार बाग



शालीमार बाग



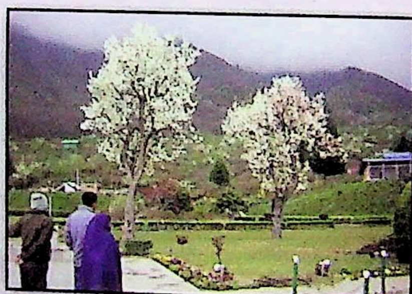
शालीमार बाग



अच्छबल



चश्मेशाही



फुलये चश्मेशाही



शालीमार बाग

दुस्सा अब हमें किसी भी परिवार में नहीं मिलेगा। यह हमारी वह संस्कृति का भाग है जो विस्थापन के कारण लुप्त हो चुका है। दुस्से के बने शाल और दादी जी का काता हुआ पश्मीने का शाल जिस पर ज़री की कढ़ाई थी, मैंने चित्रों में दिखाये हैं। यह पश्मीना लगभग साठ वर्ष पुराना होगा, क्योंकि मेरी मां कहा करती थी कि ज्यों ही घर में पुत्री के रूप में मेरा जन्म हुआ, मेरी दादी जी ने मेरे लिए भी पश्मीना कातना शुरु कर दिया था।

कश्मीरी महिलाओं के चरखा कातने का वर्णन ललेश्वरी और हब्बा खातून के वाकों में मिलता है। कहते हैं, ललेश्वरी जब भी पश्मीना कातती तो उसके बने धागे उसकी सास झील में फेंक दिया करती थी। कहा जाता है कि वे धागे नदरु (भें) के धागों के रूप में आजकल देखने को मिलते हैं। हब्बा खातून अपने मायके वालों को कहती हैं, "मेरा चरखा टूट गया है या चरखा देदो या चरखे के पैसे दे दो।" अब यह लघु उद्योग जो कश्मीरी महिलायें करती थीं धीरे–धीरे, समाप्त हो गया और पश्मीना व्यवसायिक लोगों के हाथें में पूर्णतया चला गया।

पश्मीने की कढ़ाई : यह कढ़ाई विभिन्न प्रकार की होती है। पश्मीने की कढ़ाई का विश्व भर में बोल बाला है। आतंकवाद हर गली कूचे में पहुँचा, परन्तु एक कढ़ाई करने वाले के कमरें में नहीं पहुँचा। जो अपने पीछे के कमरें में, एक ऐनक लगा कर, बिजली के बल्बों की रोशनी में, अपने घुटने पर शाल या कपड़ा रखकर महीन स्टिच के साथ शाल की पश्मीना कढ़ाई करता है। एक शाल को बनाने में महीनों लगते हैं। पश्मीने की कढ़ाई बारीक कढ़ाई विभिन्न प्रकार की होती है जैसे पश्मीना कढ़ाई, दुरई और चेनस्टिच। इसमें रंगदार धागों का प्रयोग होता है। उसके रंग बड़े पक्के होते हैं। रंगों का समय काल बहुत अधिक होता है। कपड़ा फट जाता है, परन्तु धागों के रंग नहीं जाते।

पश्मीने पर तिल्ले के काम की भी बहुत मांग है। तिल्ले की कढ़ाई का काम यहां का खास काम है। यह पूरे भारत वर्ष में इस प्रकार की कढ़ाई कहीं और नहीं होती।

कश्मीर की कढ़ाई चाहे वह पश्मीने के स्टिच का काम हो या तिल्ले का, चिनार के पत्ते का आकार कहीं न कहीं अवश्य बनाया जाता है।

पेपर माशी : यह कागज़ और चिकनी मिट्टी को घोल कर, उसे विभिन्न

सजावटी सामान का आकार दिया जाता है और सूख जाने पर उन पर बारीक से बारीक पेंटिंग करते हैं। रंग इतने सुन्दर और बारीक पेंटिंग होती है, कि वे कांगडा पेटिंग की याद दिलाते हैं। यह रंग सदियों तक वैसे ही रहते हैं। पेपर माशी के साईड लैम्प टेबल लैम्प, पाऊडर बोक्स, लिपस्टिक स्टैण्ड, अन्य वस्तुएं बनाई जाती हैं। जिन्हें घरों में सजा कर रखा जाता है।

कि्वुल : यह भिन्न प्रकार का कपड़ा होता है। थोड़ा सा खुरदुरा क्रीम रंग का और यह बड़े–बड़े थान के रूप में बुना जाता है। उन बड़े–बड़े थान जैसे कपड़े पर ऊन से चेनस्टिच की कढ़ाई की जाती है। यह इस कढ़ाई से रंगी बेलबूटे, चिनार के पत्ते, फूल आदि काढ़े जाते हैं और फिर इस कपड़े के बैग, बैड–कवर, परदे बनाये जाते हैं। यह पूरे विश्व में परदे और बैड कवर के रुप में निर्यात होता है।

अखरोट की लकड़ी का सजावटी सामान : अखरोट के पेड़ की लकड़ी बहुत नर्म होती है। यह युगों तक चलती है। इस लकड़ी को दीमक नहीं लगती। इस लकड़ी पर गुदाई की जा सकती है। अतः अखरोट की लकड़ी के सजावटी सामन, साईड टेबल, टेबल लैम्प, खाना खाने का टेबल, सैन्ट्रल टेबल, अतः इस लकड़ी के सामान को प्रयोग करने वाले के वैभव पर आध ारित है कि वह क्या–क्या खरीद सकता है।

केन का काम : यह काम यहां बहुत प्रचलित है। केन की टोकरियां, लैम्प–शेड, साधारण कांगड़ी और सजावटी कांगड़ियों के खोल, वाल हैंगिंग, केन के घुंघरु बना कर उनके लड़ियों के परदें, यहां के केन के काम के आकृषण हैं।

कालीन : कश्मीर, सिल्की और ऊनी कालीन बुनने का सबसे बड़ा व्यवसायिक केन्द्र है। कालीन बनाने की विधि यहां की खासियत है। इनमें धागे में गांठें बना कर कालीन बुने जाते हैं। इस में बच्चों से बूढ़े लोग तक काम करते हैं। रंग–बिरंगे धागे, उनके नमूने ज़बानी याद किये जाते हैं और वह गीत के रूप में ऊँचा–ऊँचा बोल कर बुने जाते हैं। मेरे घर के पीछे कालीन बुनने का कारखाना था, वहां पर बुनने वाले गा गा कर कालीन बुना करते थे। मैने अपनी दादी से पूछा कि यह लोग क्या गा रहे हैं। उन्होंने बताया कि वे नमूने को कंठस्थ करते हैं और ऊँचा ऊँचा बोल कर एक दूसरे को रंग और बेलबूटे का नमूना सुना कर बुनते हैं। कश्मीरी कालीन, कश्मीर का सबसे बड़ा व्यवसाय है।

नमदा : यह ऊन और सूती धागों के मिश्रण से बनता है। इसे दबा कर

आकार दिया जाता है। उस पर ऊन या सूती धागे के रंगीन चेन स्टिच से कढ़ाई की जाती है। यह फर्श पर बिछाने के काम आता है।

कश्मीरी कम्बल : यह भेड़ के ऊऊन को कात कर खडडी पर बुने जाते हैं। कम्बल बहुत ही गर्म होते हैं, परन्तु आज कल इसका प्रयोग कम किया जाता है, क्योंकि इस पर आकृषक डिज़ाईन नहीं होते और खुरदुरे होते हैं। गब्बा नये या पुराने कम्बलों पर रंगीन ऊन की चेन स्टिच की कढ़ाई की जाती है। इसे गब्बा कहते हैं। इसे दीवान पर, फर्श पर, बिछाया जाता था।

चान्दी और पीतल, ताम्बे के बर्तनों पर मीनाकारी : यह अत्यन्त मोहक काम है। चांदी के बर्तन जैसे, गिलास कप पलेट, समावार उन पर मीनाकारी की जाती है। आम तौर पर इस पर चिनार के पत्ते बनाये जाते हैं। तांबे के समावार, डुल आदि उन पर भी विभिन्न प्रकार के आकार के चित्र गोदे जाते हैं।

सिल्क : कश्मीर सिल्क बनाने और उसकी साड़ी और अन्य कपड़े बनाने का एक बहुत बड़ा केन्द्र है। यहां रेशम के कीड़ों के कारखाने हैं। यहां पर क्रेप सिल्क, टैबीसिल्क का उत्पादन करके उन्हें बुन कर कपड़े का रुप दिया जाता है। जिस पर, पश्मीने की कढ़ाई, ज़री की कढ़ाई कर के, राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय बाज़ार में बेचा जाता है। सिल्क की साड़ियों पर किये गये कश्मीरी कढ़ाई के काम की पूरे भारत वर्ष में बहुत मांग है।

इन व्यवसायों ने कश्मीर की घाटी के लोगों की आजीविका को जीवित रखा है। उन्हें रोज़ी रोटी दी, परन्तु धन, वैभव उन्हें दिया जो इस माल को राष्ट्रीय या अन्तराष्ट्रीय बाजार में बेचते हैं।

छूट गई हमारी विरासत, वहीं दूर कहीं घाटी में, अब तो हम अपने ही बागों के सेब, अखरोट, बादांम, बाज़ार से पैसों से खरीद कर लाते हैं।

दीना नाथ नादिम जी के शब्द

पक्तिव अथंवास करि करि संरी,
गाह असि वुज़नाव ओपंरी।
अदि कति अंछ गाश रोज़ि रात मोगुलस,
अदि कति बदख्वाही लबि यंरी।
पानय नीकी ज़ाय ज़ाय, शाय शाय,
बदं तं बदख्वाही करि दूरी।
अथंवास सोन करि वादन पूर,
दुनिया सोन बनि नूरय नूरी,

आओ हम सब आपस में हाथ मिला कर चलें,
सारी दुनियां में जागृति लायें।
जिस बुराई की आंखों में रोशनी लुप्त हो जायेगी,
और बुराई का नाश हो जायेगा।
हमारा प्यार हर वादे को पूरा करेगा,
हमारी दुनिया में रौशनी ही रौशनी हो जायेगी।



कश्मीर की झीलें और चश्मे

वुल्लर झील

वुल्लर झील ऐशिया की सबसे बड़ी झील है। यहां पर प्रतिपल ताज़ा पानी आता रहता है जो इसकी गरिमा बढ़ाता है। चारों ओर अद्वितीय प्राक तिक सौंदर्य है। यहां पर पहाड़ों से वर्षा का पानी और जेहलम नदी का पानी आता है। यहाँ का पानी अथाह सागर की भान्ति है, परन्तु शान्त है। प्रत्येक मील के बाद, इसके पानी का रंग बदलता है। यह झील दस मील लम्बी और छः मील चौड़ी है। वुल्लर झील, श्रीनगर से 32 किलोमीटर दूर उत्तर पश्चिम की ओर है। वुल्लर झील हज़ारों लोगों की जीविका का साधन है। यहां मछली पकड़ना सबसे बड़ा व्यापार है। कश्मीर की साठ प्रतिशत् मछली का उत्पादन यहां से ही होता है। दूसरी अजीविका का साधन जल की उपज है। जिसका इस्तेमाल भिन्न–भिन्न तरीकों से किया जाता है। वुल्लर झील में प्रति वर्ष हज़ारों प्रवासीय पक्षी आते हैं जो इसकी गरिमा को बढ़ाते हैं। इस झील का अतिक्रमण हो रहा है। झील में वीडस का उगना और जिससे ऑक्सीजन न मिलने के कारण मछलियों का मर जाना, प्रदूषण और पक्षियों के शिकार जैसी कुव्यवस्थाओं से झील का सौंदर्य डगमगा रहा है।

मानस बल झील

यह सबसे गहरी झील है। यह श्रीनगर से 30 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। डल झील के बाद यह पर्यटकों का दूसरा आर्कषण का केन्द्र हुआ करती थी। यहां पर हाऊस वोट और शिकारे हुआ करते थे। झील के चारों ओर बड़े–बड़े फलों के बाग हैं। जो सैलानियों को आर्कषित किया करते थे।

अच्छ बल

यह मलिका नूरजहां की विश्रामगाह थी। इसे जहांगीर बादशाह ने बनवाया था। सन् 1671 मीटर की ऊँचाई पर स्थित श्रीनगर से 56 किलोमीटर दूर

है। यह मुगल साम्राज्य की की देन है। यह बाग फारसी शैली का बना हुआ है। यह रमणीक जगह, अपना ही गौरव और गरिमा रखता है। चारों ओर पहाड़ियों हैं। बीच में झरने और फवारे हैं। इसके बाग पारम्परिक मुगल गार्डन की तरह भिन्न–भिन्न स्तर पर बने हैं। यहां बड़े–बड़े चिनार के पेड़ हैं। यहां कई प्रकार के फूलों की क्यारियाँ हैं। जिनमें सुगन्धित फूलों के पौधे हैं। यह एक बड़ा ही आर्कषक पयर्टन स्थल है।

कोकर नाग

यह 2020 मीटर की ऊचाईं पर स्थित एक चश्मा स्थित है। यह श्रीनगर से 70 किलोमीटर पर है। कोकर नाग नाग चारों ओर से सुन्दर फूलों की क्यारियों से सजा हुआ है। यहां के फूलों की महक बड़ी भिन्न है। यहां का पानी चश्मे के पानी की तरह निर्मल है और सब लोग इस जगह को पसन्द करते है।

यूस मर्ग

यह एक सुन्दर पयर्टक स्थल है। यहां हरी–हरी घास के बिछे बाग हैं। इसके चारों ओर ऊँचे–ऊँचे चीड़ के व क्ष हैं, जिनकी हवाओं से उत्पन्न हुई ध्वनी संगीत की तरह मन को मोह लेती है। यह जगह एक आर्कषण का केन्द्र है। इसके मध्य से दूध गंगा बहती है। जिसका पानी पत्थरों से टकरा कर झरने के पानी का स्वर देता है। नदी झरने के रुप में गिर कर, कई फुट ऊँची झाग बनाती है। यह द श्य देखने योग्य है। यूस मार्ग के पास ही शेखनूरउद्दीन और नन्द ऋषि की दरगाह है।

अहरबल

उच्चनाद करता हुआ झरना, यहां के सबसे बड़ा आर्कषण का केन्द्र है। यहां पर पिकनिक के कई स्थान हैं। यहां पर लोग पर्वतारोहण के लिए आते थे। यहां सबसे ऊँची चोटी 1300 फुट पर हैं।

वेरी नाग

यह 'नाग' चश्मा श्रीनगर से 80 किलोमीटर दूर, 1876 मीटर की ऊँचाई पर है। यह चश्मा प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह जेहलम नदी का स्रोत है। इस स्थल को बादशाह जहांगीर ने बनवाना शुरु किया था। फिर

शाहजहां ने पूरा किया। बेरीनाग में मुगलकालीन शैली के अवशेष अभी भी बाकी हैं।

डल झील

डल झील को कश्मीर का दिल माना जाता है। यह पानी का अथाह सागर जैसा डल, अब कुछ सिकुड़ गया है। यह चार मील चौड़ा और 11 मील लम्बी है। डल झील चार भागों में बटी हुई है। गगिरबल, लोकुट डल (छोटा डल) बोड़ डल (बड़ा डल) और नगीन झील। इन सब झीलों के द श्य अद्वितीय हैं। चारो ओर से पहाड़ों के प्रतिबिम्ब पानी में पड़ कर इसकी गरिमा में चार चाँद लगाते हैं। यहां पर हाऊस बोट, शिकारे, नावें होती हैं। डल झील के आरम्भ में ही नेहरु पार्क है जो पर्यटकों के आक षण का केन्द्र है। यहां पर 'वाटर स्पोटर्स' एवं 'मोटर बोटस' चला करती थी। यहां का निर्मल पानी स्थिर और शांत है। डल के बीच एक टापू है जिसे चार चिनारी या 'रूपलांक' कहा जाता है, यहां पर चार चिनार थे। जलपान ग ह हुआ करता था। बच्चों के लिए झूले और बाहर झील में असंख्य शिकारे हुआ करते थे। डल झील में, पहाड़ों का जल के एकत्रित होने से वर्षा का पानी और बर्फ पिघलने के कारण पानी के स्तर में बदलाव आता रहता है। इस पानी को डलगेट से नियंत्रित किया जाता है। अतिरिक्त जल जेहलम नदी में बहा दिया जाता है। डल झील हज़ारों लोगों की जीविका का साधन है। यहां पर हाऊस बोटों में 3000 के करीब लोग रहते हैं। यहां पर सब्जियों के बाग हैं। जिन्हें 'फ्लोटिंग गार्डन', तैरती हुई क्यारियां, कहते हैं। शहर की अधिकांश सब्जी यहीं से आती है। यहां पर असंख्य शिकारे चलते हैं। नाविक पर्यटकों से अपनी जीविका चलाते हैं।

डल झील सर्दियों में कभी–कभी अधिक बर्फबारी के कारण जम जाती है। यह प्राक तिक सौन्दर्य का अद्भुत नमूना है। मल्लाहों के बच्चे उस जमे हुए डल पर स्केटिंग करते नज़र आते हैं। फुटबाल खेलते हैं। मुझे ऐसा मौका जीवन में एक बार मिला था। मुझे डर लग रहा था कि अगर उस पर मैं चलूँगी तो डूब जाऊंगी। अतः मैं उस जमे हुए डल पर कभी नहीं चली।

डल गेट

डल के पानी को नियन्त्रण में रखने का साधन है। यहां दो गेट हैं। एक गेट डल की तरफ और दूसरा गेट नदी की तरफ। नदी और डल के पानी

के स्तर में अन्तर है। डल के पानी का स्तर ऊँचा होता है। जब डल झील में अधिक पानी हो जाता है, सब्जियों या सामान से भरी नावों ने नदी में आना होता है तो नदी का गेट बन्द कर देते हैं और डल झील की तरफ का गेट खोल देते हैं। अतः पानी बह कर बीच की जगह का स्तर ऊँचा कर देता है और वह डल झील के स्तर तक आ जाता है। नावें या डोंगे अब डल झील से बीच की जगह में आ जाते हैं और डल झील वाला गेट बन्द कर दिया जाता है। अब नदी वाला गेट खोल दिया जाता है। पानी बह कर नदी में आ जाता है। वहां का स्तर नीचा हो जाता है। वह नदी के बराबर आ जाता है। डोंगे या नाव नदी में आ जाती है। इस प्रकार डल गेट में दो गेटों के खोलने, बन्द करने से इधर–उधर नावों की आवाजाही हो जाती है और डल झील का स्तर नियंत्रण में रहता है।

आज कल, खान–पान की वस्तुओं और सब्जियों का नावों के द्वारा वितरण कम हो गया है, क्योंकि आटो, टैम्पू का ज़माना आ गया है।

मैने अपने जीवन काल में डल गेट के इस सुयोजित ढंग से गेट खोलने और बन्द करने की विधी को देखा है। हम नौका में बैठकर नदी से डल झील की सैर का गये थे। पानी का गिरना और किश्ती का पानी के स्तर के साथ–साथ उपर उठना, सब मन को बहुत अच्छा लगा था। सब बीती बातें हैं।

कहते हैं अब डल झील 50 प्रतिशत सिकुड़ चुकी है। यहाँ हाऊसबोट और मकानों के कारण अतिक्रमण हुआ है। नदियों और नालों के गन्दे पानी से इस का निर्मल जल दूषित हो चुका है। इसमें असंख्य वीडस हैं, जो प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। पहाड़ों से मिट्टी बह कर आ रही है, जो इसका तल ऊँचा कर रही है और गहराई कम हो रही है। सरकार इसके लिए चिंतित है, और इसकी सफाई का अभियान राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चला रही है।

काश्मीर के मुगल गार्डन और पार्क

कश्मीर घाटी के पहाड़ों से घिरे अनेक बगीचे और पार्क बने हैं। इसमें बेलें, लतायें पौधे, फूलों की झाड़ियां, बड़े–बड़े चिनार के पेड़, फब्बारे, झरने चारों ओर हरी घास बिछी हुई है। ये यहां के आक षण का केन्द्र है। यह मुगल बादशाहों की प्राक तिक प्रेम और कला में रुचि की निशानियां हैं। यह बाग बगीचे चार सौ वर्ष पूर्व मुगल बादशाह, जहांगीर ने बनवाये थे।

शालीमार बाग

डल झील के किनारे यह एक बहुत बड़ा बाग है। यह डल झील के किनारे दूर तक फैला बाग पहाड़ियों की ढलान पर है। इसके कई खण्ड हैं। इस के मध्य में मुगल बादशाहों के बनाये स्मारक हैं। जो हवादार हैं। वहां बादशाह गर्मियों में रहा करते थे। मध्य में से झरने बहते हैं और फब्बारे लगे हुए हैं। चारों तरफ हरी–हरी घास बिछी हुई है। फूलों की क्यारियां और झाड़ियां, असंख्य पेड़, बड़े–बड़े चिनार के व क्ष खड़े हैं। यहां पर सन् 1987 में मैने लाईट एण्ड साऊण्ड प्रोग्राम देखा था। जिसमें मुगल साम्राज्य की कहानी दोहराई जाती थी। पायल की झंकार, मुगल के बादशाहों के आगमन की पुकार, बादशाह के स्वर और रौशनी के साथ रंग बदलना, स्वर के साथ–साथ एक स्मारक से दूसरे स्मारक तक आवाज का पहुँचना, उसकी गूंज ऐसा आभास देती थी, कि हम उस समय मुगल बादशाह के महल में बैठे उन्हें देख रहे हैं। मुगल के बादशाह और उसकी रानी के साथ प्रेम से परिपूर्ण शब्द, उनकी कहानी दोहराते थे। इस लाईट और साऊण्ड प्रोग्राम से चिनारों के बड़े–बड़े पेड़ों के काटने की आवाजें और शालीमार बाग बनाने की ठक–ठक भी सुनाई जाती थी। यहाँ दो शो हुआ करते थे। पहला 7½ से 8½ बजे तक और दूसरा 9 से 10 बजे तक। पयर्टक आराम से 10 बजे तक अपनी टूरिस्ट बसों में होटलों में जाते थे।

निशात बाग

यह शालीमार बाग से थोड़ा छोटा बाग है। पहाड़ी के ढलान से शुरू होकर डल झील के किनारे तक स्थित है। यह मुगल गार्डन की शैली पर बने बागीचे, कई स्तरों पर है। बागीचे के मध्य में फव्वारे और झरने हैं। चारों ओर चिनार के पेड़, फूलों की क्यारियां और झाड़ियां, यहां के आक षण का केन्द्र है। यहां के कुछ बड़े पेड़, मुगल बादशाह परशिया से लाये थे और इन बागीचों में लगाये थे।

चश्मे-शाही

यह शाही चश्मा है। यह शाहजहां ने बनवाया था। यह पहाड़ी के नीचे बहता हुआ चश्मा है। यह युगों से बहता आ रहा है। इस का निर्मल जल, सबसे उत्तम जल माना जाता है। सड़क से झरने तक पहुँचने के लिए कई

सुन्दर बागों में से गुज़रना पड़ता है। यह बगीचे बाकी मुगल गार्डन की तरह फूलो, पेड़, पौधों के सुन्दर द श्यों से भरे हैं। हरी हरी घास चारों ओर बिछी हुई है। यह जगह शान्त और रमणीक हैं। पर्यटकों के आर्कषण का केन्द्र हैं। यहीं काश्मीरी लोग 'नवरेह' और अन्य त्योहार मनाने आया करते थे। खाना घर से लाते थे, और 'समावार' में कहवा बनाया करते थे। संयुक्त परिवार इसका आनन्द लेता था।

परीमहल

परीमहल पहाड़ी पर स्थित एक मुगल साम्राज्य का स्मारक है। यह डल झील से भी दिखता है। इसे दारा शिकोह ने बनवाया था। यहां पर कई बगीचे और चश्मों की धारायें बहती थी। वे अब सूख चुकी हैं। स्मारक पर बड़ी–बड़ी फ्लड लाईट लगी हुई हैं जो परी महल को रात को चमकाती हैं। रात को डल झील से इस चमकती इमारत का नज़ारा ही देखने योग्य है। यह मुगल साम्राज्य की देन है, जो अभी भी अवशेषों में बाकी है, सरकार अभी भी इसकी देखभाल कर रही है।

गुलमर्ग

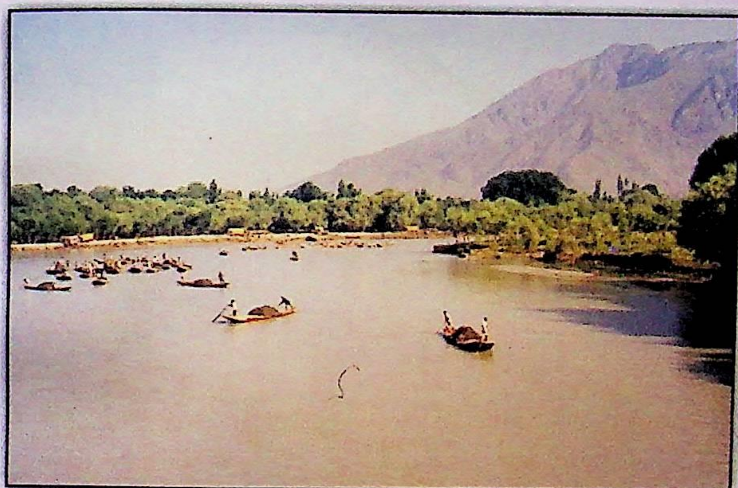
गुलमर्ग एक सैरगाह है। फूलों से संवरी जगह को गुलमर्ग कहा जाता है। यह एक सैरगाह 2730 मीटर की ऊँचाई पर एक ढलानदार धास के मैदान हैं जो श्रीनगर से 51 किलोमीटर दूर बारामुल्ला जिले में स्थित है। यह एक कटोरीनुमा घाटी है, जो कश्मीर की एक पहाड़ी पर स्थित है। इसके चारों ओर भिन्न–भिन्न पहाड़ियाँ हैं। जिनकी चोटियाँ सर्दियों के मौसम में बर्फ से ढक जाती हैं। उन पहाड़ियों पर जंगल है, जो पाईन एवं गिगैंटिक से भरे हुए हैं। गुलमर्ग पहुँचने के रास्तों में धान के सुन्दर खेत, अखरोट के पेड़, शहतूत, नाशपाती के सुन्दर बाग, नजर आते हैं। गुलमर्ग को 16वीं शताब्दी में सुल्तान शाह ने ढूँढा था। यहाँ के घास के बड़े–बड़े मैदान और गड़रियों की भेड़ों की चारागाहों ने, उसका मन मोह लिया था। बादशाह जहाँगीर को भी यह जगह बहुत पसन्द आई थी। यह उसको सबसे अच्छी सैरगाह लगी। उसने यहाँ से 21 प्रकार के फूल एकत्रित किये और साथ ले गया। गुलमर्ग सैलानियों के लिए आकर्षण का केन्द्र है। यहाँ संसार का बड़ा गोल्फ कोर्स हैं। यहाँ पर दुनियां के हजारों सैलानी, गोल्फ खेलने आते थे। यहाँ पर सर्दियों के स्पोटर्स जैसे स्कीइंग स्लेजिंग आदि आयोजित किए जाते थे।



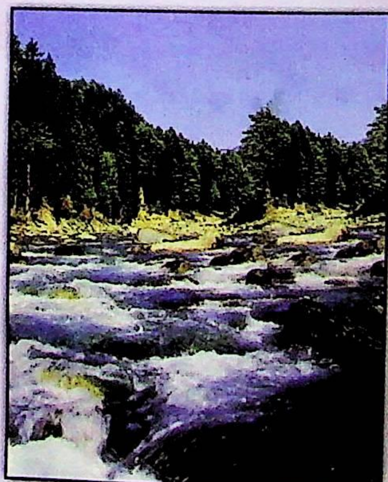
घडोला गुलमर्ग



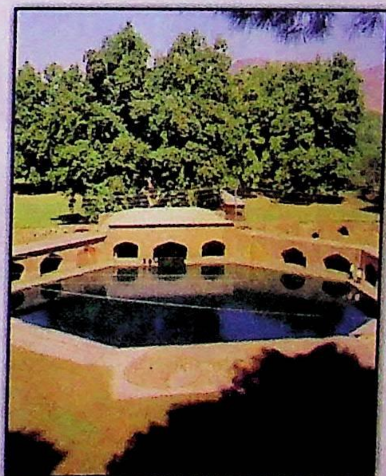
गुलमर्ग



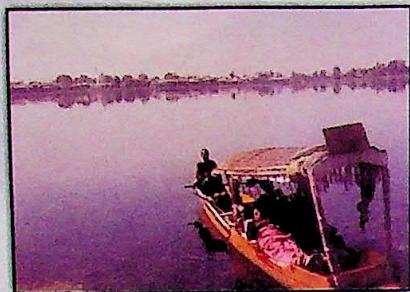
सिन्धु नदी की धारा (खीरभवानी जाते हुए)

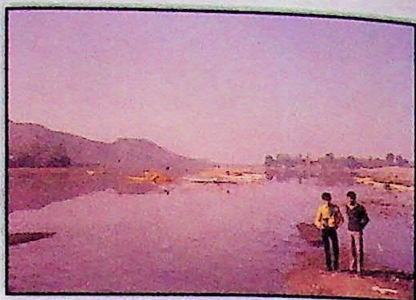


पहलगाम

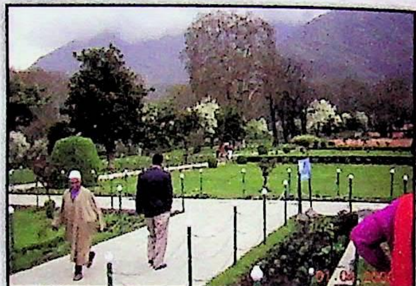


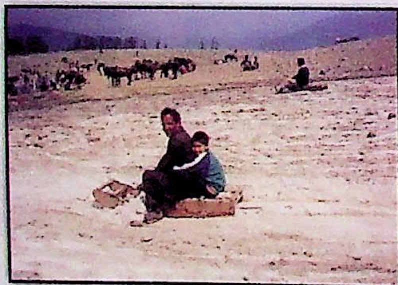
वेरी नाग

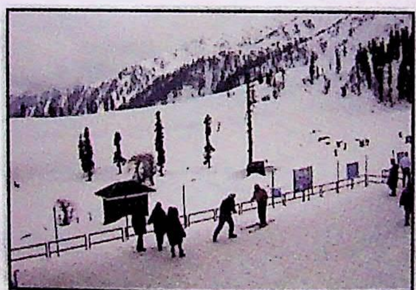

नगीन झील

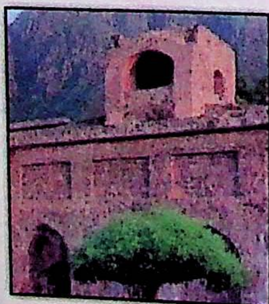

नसीम झील


निशात बाग


निशात बाग


खिलनमर्ग


खिलनमर्ग


परी महल

यहाँ का एक और आकर्षण हैं। वर्ष में अप्रैल तक यहाँ के मैदानों और पहाड़ी चोटियाँ, रूई जैसी बर्फ से ढकी रहती है। जिनके द श्य बड़े ही रमणीक होते हैं। गुलमर्ग का मैदान घुमावदार सड़क से घिरा हुआ है। जिस पर घुड़सवारी करने का आनन्द आता है। गर्मियों में यहाँ पर हजारों गड़रिये भेड़ें चराने आते हैं। रंगबिरंगी भेड़ें दूर से घास चरती हुई बहुत सुन्दर लगती हैं।

टंगमर्ग

गुलमर्ग से पहले टंगमर्ग आता है। मैदानी रास्ता तय करने के बाद टंगर्मग से, पहाड़ी रास्ता शुरु हो जाता है। जो गुलमर्ग तक ले जाता है। इस पहाड़ी पर घुमावदार सडकें, चारों ओर चीड़ के पेड़ों, कोन और सुईयों गिरे हुए बहते झरने, और पानी की धारायें, कहीं कहीं बर्फ की चादरें, गुलमर्ग तक पहुँचने में मन को मोह लेती हैं। टंगमर्ग में घोड़े की सैर भी की जा सकती है। यहाँ से गुलमर्ग घोड़े पर भी जाया जा सकता है।

खिलनमर्ग

गुलमर्ग पहुँचकर दूर बर्फ की चोटियाँ नज़र आती है. वहीं पर रोपवें (Ropeway) से जाया जाता है। इसके दो पड़ाव है। यह सीजन पर आधारित हैं। गर्मियों में बर्फ जहां तक रह जाती है तो रोपवे Chair Car सेलानियों को पहाड़ की चोटी तक पहुँचाती हैं। जब बर्फ नीचे की पहाड़ियों तक होती है तो Chair Car नीचे के पढ़ाव पर रुक जाती है। खिलनमर्ग में बर्फ की सफेद चादर बिछी हुई होती है। सूर्य की धूप छांव, बादलों का डेरा, सैलानियों का हजूम स्काईंग, स्लेजिंग घुड़सवारी यहाँ के मुख्य आकर्षण होते थे। कभी–कभी सेलानी यहां गिरती हुई बर्फ का आनन्द भी लूटते हैं।





पुरातन कलाकृतियाँ

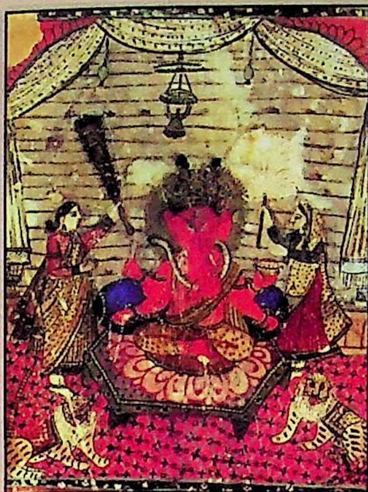


क्या विडम्बना है? पलयान के कारण सबके घरों का सामान, कश्मीर में ही रह गया। जो कुछ भी वे लोग, अपने साथ लाये उन्हें खुद को मालूम नहीं था कि उनके पास अपनी संस्कृति की धरोहर है। मैने कई मित्रजनों, रिश्तेदारों को अपनी संस्कृतिक चीज़ों के बारे में पूछा तो, अपने ही घर में अमूल्य वस्तुएँ मिली, जिन्हें मैंने अपनी जीवन की अमूल्य खोज समझ कर, उन्हें संजो कर रखने को कहा है।

जो पुस्तकें मिली वे निम्नलिखित हैं:–

1. Kalhana's Rajatarangini Or Chronicle of the Kings of Kashmir. Edited by M.A. Stein, Ph.D., Vol I.
2. Sanskrit Deed of Sale Kasmirian Mahabharata Manuscript by M.A. Stein.
3. The World's Greatest Short Stories. The Home Library Club. The Times of India – The Statesman Associated Newspapers of Ceylon Ltd.
4. Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Raghunatha Temple Library of His Highness The Maharaja of Jammu & Kashmir. Prepared for the Kashmir State Council by M.A. Stein, Ph.D. Principal Oriental College, Lahore.
5. Bhagvat Geeta by Annie Besant 1892.

Catalogue of Sanskrit manuscript को बनाने में पंडित 'सहज भट्ट' ने सहायता की थी। सहजभट्ट का उल्लेख उन्होंने अपनी भूमिका में किया है। यह पुस्तक सन् 1892 की छपी हुई है और जम्मू कश्मीर ने सहजभट्ट जी को भेंट की हुई है। सहजभट्ट बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वह संस्कृत के विद्वान थे। कहा जाता है कि राजतरंगनी के संस्कृत अनुवाद में भी उन्होंने M.A. Stain की सहायता की है, परन्तु भूमिका में वर्णन न होने के कारण इसका सबूत नहीं है।



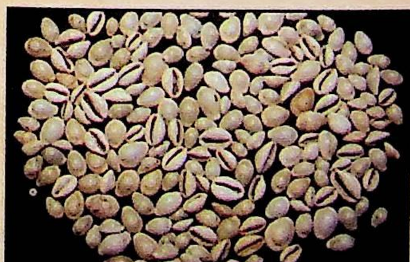
गणेशजी की दुर्लभ पेन्टिग



शिवजी की दुर्लभ पेन्टिग



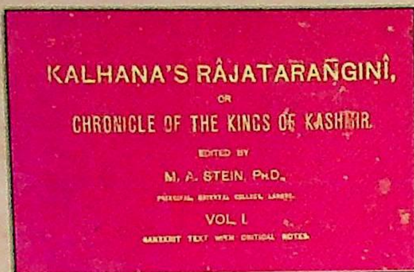
शारदा एवं देवनागरी में जन्मपत्री (ज़ातुख)



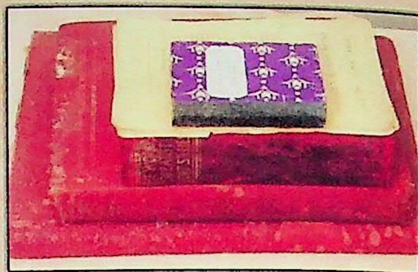
कोड़ियाँ 'हारें'
शिवरात्रि के दिन खेलते थे



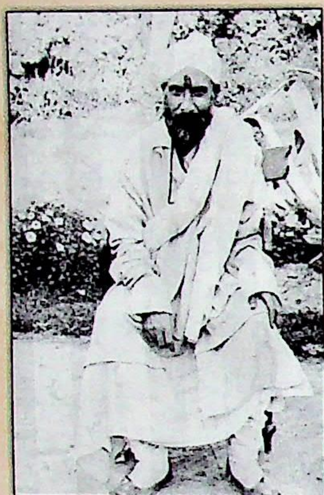
ब्रिटिश इंड़िया एवं
आज़ाद भारत की करंसी



M.A. Stain द्वारा संकलित राज तरंगिनी



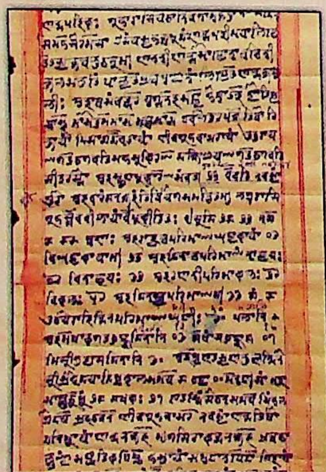
पुरातन पुस्तकें अपने ही घरों से मिली



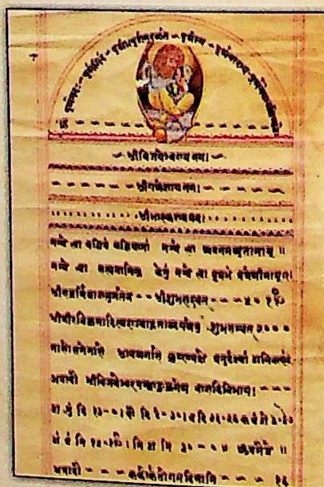
सहजभट्ट - सहयोगी M.A. Stain



M.A. Stain



शारदा लिपि



देवनागरी लिपि

6. दो पेंटिंग मिली। जिनके चित्रकार के बारे में कहीं वर्णन नहीं है। यह पुरातन कलाकृत्तियों के नमूने हैं। एक में शिव जी का अद्वितीय रूप और श्री गणेश का आध्यात्मिक रूप दर्शाया गया है। यह दोनों कृतियां, पुराने रंगों और सुनहरी स्याही से बनी हैं।

   शारदा लिपि में लिखा हुआ ज़ातुक (जन्मपत्री) यह आज कल कोई भी पढ़ नहीं पाया।

7. देवनागरी लिपि में जातुक (जन्मपत्री), जो पुराने देवनागरी लिपी के विशेषज्ञ हैं, वे ही पढ़ पा रहे है।।

8. पुराने सिक्के–धेला, पैसा, दव्वनी, चव्वनी, अठन्नी, रुपया, मोरी वाला पैसा, यह सब ब्रिटिश इंडिया और स्वतंत्रता के बाद के सिक्के मैने विभिन्न जगह से एकत्रित किये हैं।

   यह सब वस्तुएं हमारी पुरातत्व कला की धरोहर हैं।



कश्मीरी पंडितों का इतिहास

यदि हम कश्मीर के इतिहास का निष्पक्ष रुप से विश्लेषण करें, तो इस बात की पुष्टि होती है, कि समय समय पर विभिन्न, आतातायी शासकों द्वारा असहाय कश्मीरी पंड़ितों की किसी न किसी बहाने, बड़े पैमाने पर निर्मम हत्याएं की जाती रही हैं। यह अत्यंत दुखः का विषय है, कि किन्ही कारणों से इन हत्याओं का किसी भी स्तर पर प्रतिरोध नहीं हो सका। प्राचीन इतिहास इस प्रकार की हृदय विदारक एवं रक्तरंजित घटनाओं से भरा पड़ा है।

कश्मीर घाटी में सुल्तान सिकंदर (1389-1413) के शासनकाल में उसका प्रधानमंत्री पंडित सहाभट्ट, जो अपना धर्म परिवर्तिन कर मलिक सैफउद्दीन हो गया था, अपने क्रूर, और बर्बर अत्याचारों द्वारा, असहाय कश्मीरी पंडितों के लिए मौत का पर्याय बन गया। इस्लाम के कट्टरपंथियों के इशारे पर इस हत्यारे ने हजारों बेगुनाह कश्मीरी पंडितों को मौत के घाट उतार दिया। अनेकों बहुमूल्य पाण्डुलिपियों को जला कर नष्ट कर दिया और अनगिनत हिन्दुओं के पूजा स्थलों को तोड़ कर नष्ट किया गया।

इतिहास इस बात का साक्षी है, कि इन विषम परिस्थितियों में घाटी में केवल ग्यारह कश्मीरी पंडित परिवार अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हो सके थे बाकी, या तो मारे गए या, फिर घाटी से पलायन कर गए। इस बात की पुष्टी प्रसिद्ध इतिहासकार तारीख हसन ने भी की है।

सुल्तान सिंकन्दर का प्रपौत्र सुल्तान जैनुलआबीदीन (1420-1471) एक उदार प्रकृति का व्यक्ति था। उसने इस बात को भली भांति समझा, कि कश्मीर में बिना कश्मीरी पंडितों के सहयोग के शासन चलाना कदाचित सम्भव न हो सकेगा, उसने शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए घाटी में पुनः कश्मीरी पंडितों को आने का आहवान किया उसके निमंत्रण पर बहुत से कश्मीरी पंडित परिवार जो पलायन कर गए थे, पुनः घाटी में

आकर बसे। इनमें से अनेक पंडितों को उसने शासन के उच्च पदों पर न केवल, आसीन किया, अपितु, उन्हें जागीरें देकर भी सम्मानित किया। उसके इस कार्य से मुसलमानों ने उसका नाम भट्टशाह (बट्टशाह) यानि पंडितों का बादशाह रख दिया।

यह वह समय था, जब घाटी में रह रहे कश्मीरी पंडित समुदाय का दो घटकों में सर्वप्रथम विभाजन हुआ, जो पंडित परिवार हर प्रकार के अत्याचार सहते हुए घाटी में जमे रहे उन्हें मलमासी, तथा जो पंडित परिवार पलायन करने के पश्चात पुनः घाटी में आकर बसे उन्हें, भानमासी कहा जाने लगा। इसी संदर्भ में सुच्ची हड्डी तथा झूठी हड्डी जैसे शब्दों का प्रचलन प्रारंभ हुआ। यह स्वयं में एक बहुत बड़ी विडम्बना थी।

मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल में, अबुल हसन के वक्तव्य के अनुसार घाटी में कश्मीरी पंडितों की संख्या बढ़कर लगभग दो लाख तक पहुंच गई थी। परन्तु वास्तविक प्रमाणों के अभाव में इसकी पुष्टि करना कदाचित सम्भव नहीं है। इस प्रकार की सूचनाएं अधिकतर मौखिक धारणाओं पर आधारित है। मुगल सम्राट औरंगजेब के शासनकाल में कश्मीर के सूबेदार इफतिखार खान ने तलवार के बल पर पुनः कश्मीरी पंडितों को इस्लाम धर्म अपनाने के लिए न केवल उन पर अनैतिक दबाव डाला बल्कि अनेक यातनाएं भी दीं। जिसने इसका विरोध किया उसको अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। काफी बड़ी संख्या में कश्मीरी पंडितों का अपने धर्म की रक्षा के लिए दूसरी बार घाटी से पलायन इसी समय में हुआ। उत्तरी भारत के महानगरों एवं अनेक रियासतों में बसे हुए कश्मीरी पंडित परिवारों के पूर्वज अपने धर्म और मानमर्यादाओं की रक्षा के लिए अपना सब कुछ परित्याग करके कश्मीर घाटी से निकलकर प्राकृतिक आपदाओं तथा कठिनाईयों को झेलते हुए, मन में एक उज्जवल भविष्य का स्वप्न लिए हुए, देश के अन्य भागों में आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व, आकर बसे थे। इन्होंने अपनी सूजबूझ तथा कठिन परिश्रम के बल से समाज के विभिन्न क्षेत्रें में बिल्कुल नयी परिस्थितियों में न केवल अभूतपूर्व ख्याति अर्जित की, अपितु अपने लिये एक विशिष्ट स्थान बनाया, और स्थानीय नागरिकों में आदर एवं सम्मान पाया।

सन 1947 में देश का विभाजन हुआ, पाकिस्तान एक नए देश के रूप में विश्व के मानचित्र पर उदय हुआ। इस समय कश्मीर के महाराजा हरी

सिंह थे, और उनकी डोगरी सेना थी। पाकिस्तान के तत्कालीन शासकों ने कश्मीर पर कब्ज़ा करने के उद्देश्य से सन 1948 में कश्मीर पर कबाईलियों द्वारा आक्रमण करवा दिया, जिसके लिए महाराजा हरी सिंह बिलकुल तैयार नहीं थे। हालात की नज़ाकत को देखते हुए उन्होंने भारत के साथ कश्मीर के विलय की संधि पर हस्ताक्षर किए, और सरदार बल्लभभाई पटेल ने कश्मीर की रक्षा के लिए भारतीय सेनाओं को घाटी से कबाइलियों को खदेड़ने के लिए भेजा, जिसकी कदाचित पाक शासकों को आशा नहीं थी। भारतीय सेनाओं की गोलाबारी के आगे कबाइलियों के पैर उखड़ गए, और सेना के वीर जवानों ने उन्हें खदेड़ना शुरू किया। परन्तु इसी समय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विजयी सेना को युद्ध विराम करने का आदेश दिया।

इसी संबंध में सबसे बड़ी भूल यह हुई कि पंडित नेहरू कश्मीर के मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र संघ ले गए, जिससे यह भारत के लिए आज तक समस्या बनी हुई है और इसका रुप आतंकवाद है। सरदार पटेल शरणार्थियों को कश्मीर में बसाना चाहते थे परन्तु पंडित नेहरू ने तुरन्त, शेख साहब की विचार धारा से सहमत होते हुए सरदार पटेल की योजना को निरस्त कर दिया था।

सन 1953 में रफी अहमद किदवई ने शेख मुहम्मद अब्दुल्ला को देश की नीतियों के विरुद्ध कार्य करने के गम्भीर आरोप में गिरतार करके जेल में बन्द करा दिया गया, परन्तु श्रीमती इन्दिरा गांधी जी ने अपने प्रधानमंत्री काल में शेख अब्दुल्ला को न केवल कारावास से मुक्ति दिलाई, अपितु उनसे एक सन्धि करके कश्मीर के शासन की बागडोर उनके हाथों में सौंप दी।

सन 1989-90 में घाटी में आतंक फैलाने के उद्देश्य से कश्मीरी पंडितों की चुन चुनकर निर्मम हत्याएं प्रारम्भ हुई, जिसके फलस्वरूप बाध्य होकर बहुत बड़ी संख्या में घाटी से कश्मीरी पंडितों को पलायन कर, देश के अन्य भागों में शरण लेनी पड़ी। पिछले पंद्रह वर्षो से यह विस्थापित कश्मीरी पंडित परिवार विषम परिस्थितियों में एक शरणार्थी के समान अपना जीवन व्यतीत कर रहे है। आज तक इन विस्थापित लोगों का पुर्नवास नहीं हो सका, और उनका जीवन एक दर्द भरी दास्तां बन कर रह गया है।



शब्दावली



भावपूर्ण शब्द

बलाय लगय	तुम पर जान वारूं।
वंन्दिथं लगय	तुम्हारे लिए जानं हाज़िर है।
रतछेपि लगय	तुम्हारे लिए रक्त हाज़िर है / बलिहारी जाऊं
मोल म्योन	मेरे पिता।
म्योन शूश	मेरे फेफड़े।

अपशब्द

त्रठ पे'न्य	तुम पर बिजली गिरे।
डाख गोय	सत्यानाश हो जाये।
मूदखु	मर जाओ।
नाश गॅछ़िन्य	बरबाद हो जाये, या नाश हो जाये।
अथखौर मलगिनय	तुम्हारे हाथ पांव कहीं ने लगे, अपितु तुम्हारा भला न हो।
मोज़ूर गछ़	अपाहिज हो जाओ।
ब्यमॉर्य पेयनय	बिमारी पड़ जाये।
बकवट कढथम	तुमने मेरा दिल दहला दिया है।

अड़चोट	आधे अधूरे।
ओन पेयनय	अंधे हो जाओ।
अशखाश, गछिनय	कट जाओ।
तावन पेयनय	विधुर हो जाओ।
मो'ड गंछ	विधवा हो जाओ।
	ख्यन मंज़ वकुस खाते–खाते थाली का झूठा हो जाना।
तावनजदों	गाली
प्राह गोस	भूत लगना।
नाग नेंदर	गहरी मीठी नींद।
हराममोंड	हरामजादा।

आर्शीवाद सहित शब्द

म्योन मरुन छुय	मैं तुम पर वारी जाऊँ। या तुम्हें मेरी कसम
ओरं जुव त दोर कोठ	शरीर ठीक रहे, घुटने ठीक रहें यानि चलते फिरते रहो।
अच्छन गाश रुज़िनय	आंखों में रोशनी रहे।
भगवान थविनय वारवति	भगवान तुम्हें ठीक ठाक रखे।
फौलन	फूलो फलो
राजकरिन	राज करो
डचकुं बॅड	सदा सुहागिन रहो
वारवत्य रोजन	ठीक ठाक रहो

म्यन्य द्रिय छव	मेरी कसम है
च्यॉन्य द्रिय	तुम्हारी कसम
वेपनुँ गताय गछ	मोक्ष मिले, तुम्हें गति मिले
वेपन गताय गव	मोक्ष मिला, उसे गति मिली।
शूभ यिन्य त लूभ्ज्ञ नेरून	आषीश मन की मुराद पूरी हो! वार कार सही सलामत।
रूत करिनव शम्भो	शिवजी भला करे।
अभिज़ेथ	ऐसी घड़ी जिसमें कहा जाए कि सच होकर रहे।
बलाय लगय	वारी जाऊँ।
ओरजू दोर कोठ	सेहत ठीक रहे। अतः चलते फिरते रहो घुटने ठीक रहें।

लोकोक्तियां

ब्रारि जून – सुबह का भ्रम।

मलस टुँख मशीदि तान्य – मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक।

पत बअड्य च छख भाग्यवान – वे धनीमानी हैं, तुम भाग्यवान हो।

वुनिस्ताम ऑसहम हयरि बोनह रअछी,
माजि हेंज़ि टअछी घंरह गछखय।

अब तक तो तू बिटिया, इस घर की मालकिन थी, अब यह घर छोड़कर जा रही है, री माँ की लाड़ली।

"ओ ! "बलल्य वुछतयीज़अल्प वांकन दोंहय ओसुख कोंडुलिय"

ना नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।

"ज़ेन दादि खोतु छु बोड रद्दन दोद"

जन्म देने वाली से बड़ा पालने वाली का दर्द।

"स्याक शाठस नो बवियो फल"

रेतीले पसार में फल नहीं उगते।

"अत्य दअर्य बुछिनय, म्यानि अछम वुछनय"

तुम्हारा कष्ट तुम तक रहे मेरी आँखें इसे न देखें।

"पोश्त छुव रूत करिनव महागणपत"

आपको बधाई हो, महागणपत तुम पर क प्या करे।

"दपुनस क्युथये रथ मगनोवमय,
साथ नेछुत्तर वुछुनोवमय

न्योते पर जाने के लिए मैने रथ मँगवाया है, शुभ नक्षत्र भी देखे हैं।

लौरीयां

"हो हो करय शाम सोन्दरय .... "
सोंदरो ब सोन सोंज़ल गरय .... "

"कूरी कूरी तबाशीरी, पनानि कूरी -लग्अयय ...."

मेरी बेटी! मिसरी की डली, मैं तेरे कुरबान जाऊँ।

"छुनथ रोनि मंज़लस करय गूर गूर/थन यलि प्योहम अडंरातन/ ज़ातुक ल्यूखनय शिवनाथन/वुछमय जातकस छय पूर/छुनय रोनि मज़लस करय गूर गू र.........।"

मैं तुझे घुँघरू जड़े पालने में दुलराऊँगी।
आधी रात को तुम जन्मे! तेरी जन्मपत्री

स्वयं भगवान शिवजी ने लिखी। तेरी जन्मपत्री में तेरी लम्बी उम्र है....मैंने देखा है।

"वुछितोन यि जबार जंदअ, हारस ति कोरून वंदअ"

देखो इस जब्बार फटीचर को, आषाढ़ को शिशिर बना दिया।

नामकरण 'सोन्दर' के समय औरतें यह शगुन भरे गीत गाती हैं और नाचती हैं–

कास्यायनी पोत्य आयि ब्रूंठ आयि
शोख न पोन सुन
खान मोज्य, पोत्य, आयि ब्रूठं आयि
शोख न पोन सुन
मुन्नी मेन्म बब बअड़, बोय बअड़
शोख न पोन सुन

सतीमे दोहय सोंदर करमय,
वाज़स द्वतुमय पानं फरमाश।

सातवें दिन तुम्हारा नामकरन किया–रसोइये को मैने खुद बुलाया।

बच्चों का खेल

तुले लगुन तुलान छस – उठारी माप उठाती हूँ।

धानि लगुन तुलान छस – धान का माप, उठाती हूँ।

सोना लंगुन तुलान छस – सोना का माप, उठाती हूँ।

ये शब्द पीछ पर बच्चे को रख कर अटबोरा कहकर (आटे की बोरी कहकर) झूलाते हुए गाते हैं।

यह खेल बच्चे आपस में फैलाये हुए हाथ के पंजों के ऊपर बारी–बारी एक हाथ से दूसरे हाथ को अंगुली से छूह कर बोलते हैं।

"अकुस बकुस तेलिवन चुकुस, अनुम बतुख लोदुम देगि,
शाल किचकिच वांगनों, ब्रेमिज़ि नारस पोन्य छकुम।
ब्रेमिस ब्रह्यन टेकिस टेक्खा।"





कश्मीर बीस साल बाद



मैं पिछली बार 1987 में कश्मीर गई थी। लगभग बीस वर्षों के बाद जाने का अवसर मिला। 1990 के बाद हालात इतने खराब थे, दहशत् थी, हम पंडित लोग अपना सब कुछ लुटा कर घाटी से पलायन कर गये थी। इतने वर्षों की दहशत् और मानसिक तनावपूर्ण स्थिति के कारण, हिम्मत ही नहीं पड़ी, कि हम अपने घर वापिस लौट जाये, या अपनी जन्मभूमि को भावपूर्ण दृष्टि से देख पाये।

इस बार हम हवाई जहाज़ से गये। हम पहले सदा जम्मू से श्रीनगर का सफर सड़क से करते थे। पहले–पहले, बस में फिर कारों में या जीप से। इस सफर का आनन्द ही कुछ अद्भूत होता था। घुमावदार सड़कें, पहाड़ों की चोटियां, बहती नदियों के झरने, कुद की चाय, रामबन के राजमा चावल और खूनी नाला, जवाहर टनल, पहले पुरानी जवाहर टनल, फिर नई टनल और उसके बाद काज़ी गुण्ड के परोंठे और आमलेट। इस सबका अपना ही आनन्द होता था। जवाहर टनल पार करने के बाद अपने वतन की मिट्टी की खुशबू, वह धान की महक, ठंडी हवा और लहलहाते खेत, अपने आप में आकर्षण के केन्द्र थे। इस समय के चक्रव्यूह के कारण और जीवन की व्यस्तता के कारण, हवाई जहाज़ में सफर किया।

जम्मू के हवाई अड्डे पर, और फिर श्रीनगर के हवाई अड्डे पर बहुत चौकसी थी। बाकी शहरों के हवाई अड्डों से चार पांच गुणा अधिक चैकिंग थी। अंतः पहले जम्मू में फिर श्रीनगर के एयरपोर्ट पर काफी समय लगा।

हवाई जहाज में बैठते ही दिल धड़कने लगा। एक विरह की भावना, जिसे मैने बीस सालों से हृदय में छिपा रखा था, कि मेरा कश्मीर कैसा है? आज उसे देखने को पुनः अवसर मिल रहा था। मुझे इस बात का यकीन ही नहीं हो रहा था, कि हम सचमुच कश्मीर जा रहे हैं। सन् 1963 और सन् 1964 में मैं मैडिकल कालेज से डेकोटा हवाई जहाज़ में अमृतसर जाती थी।



ज्येष्ठादेवी 2006
बिना भक्तों के



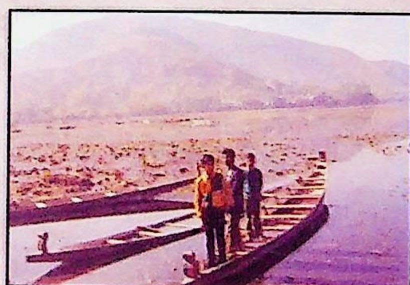
डल झील 2006
बिना सैलानी



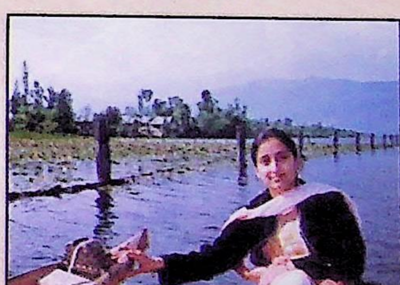
डल झील 2006
वीराना



डल झील 2006
अतिक्रमण



नगीन लेक 2005
बीड़स से भरी



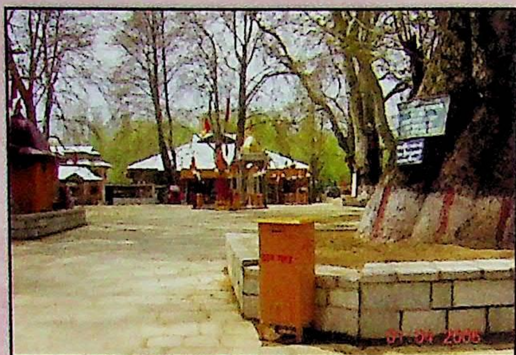
डल झील 2005
कौतरखाना अतिक्रमण



गुलमर्ग - वीराना 2005



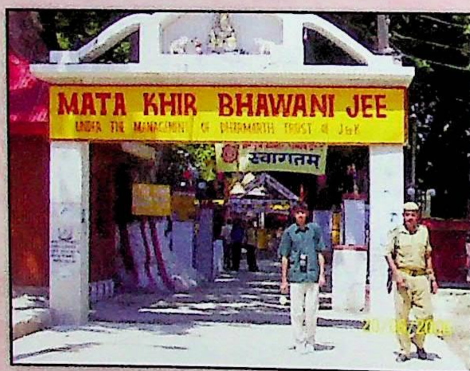
गुलमर्ग - बिना सैलानी 2005



खीर भवानी
वर्तमान - बिना भक्तों के
2006



खीर भवानी
चिनारों में से दिखता
हुआ आकाश में
भारतवर्ष का नक्शा
2006



खीर भवानी
दर्शनी गेट पर
सुरक्षाकर्मी
2006



खीर भवानी
दर्शनी गेट,
कार पार्किंग पर बंकर
2006

केवल तीस रुपये लगते थे। वह सफर याद आया। साधारण सा सफर, आनन्दमयी। डेकोटा हवाई जहाज़ पर पहली बार चढ़ कर, जब हवाई जहाज बादलों के ऊपर चढ़ा, और ऊपर नीला आकाश, नीचे सुनहरे बादल ऐसा लगा था, मानो परी लोक में घूम रहे हैं। ऐसा लगा जैसे हमारे पंख लगे हैं, सामने से परियां आयेंगी और हम मिलकर, पवन का झूला झूलेंगे। यह भावनायें उस समय की थी। आज सिक्योरिटी चैकिंग ने उस नीले आकाश; और सुनहरे बादलों की भावनाओं को सुप्त कर दिया था। हवाई जहाज़ से बाहर झांका तो वही दृश्य नज़र आये, पुराना समय याद आया, परन्तु भावनायें भिन्न थीं। उत्साह भी था और डर भी।

श्रीनगर का ऐयरपोर्ट, एक किले की भान्ति था। सिक्योरटी वालों की पैनी निगाहें आपके चेहरे और सामान पर प्रत्येक बैरियर पर टिकी होती थी। यह हमारा पहला पढ़ाव था।

ऐयरपोर्ट से बाहर निकले, काफी चलना पड़ा, टैक्सी स्टैण्ड बहुत दूर था। हमें मिलने हमारे मित्र आये थे। आपस में गले मिले, वहीं पुराना स्नेह और प्यार। मन थोड़ा सा शान्त हुआ। कार, ऐयरपोर्ट से निकल कर ऐयरपोर्ट रोड़ पर चली, और मेरा दिल धक से रह गया, यह ऐयरपोर्ट रोड़ है? यहां मेरी बुआ का घर था। बीस वर्ष पूर्व नई आबादी, बड़े–बड़े नये सुन्दर मकान, सड़कें और चहल–पहल, याद था मुझे, परन्तु आज यह सड़कें कई जगह से टूटी फूटी थी। चहल–पहल कम थी। कुछ कारें इधर–उधर आ जा रही थी और कुछ लोग फिरन पहन कर, पैदल चल रहे थे। दुःख इस बात का था, कि आज मेरी बुआ का घर वहीं कहीं होगा। परन्तु वह वहां न थी। जाने कौन इस घर में रह रहा होगा।

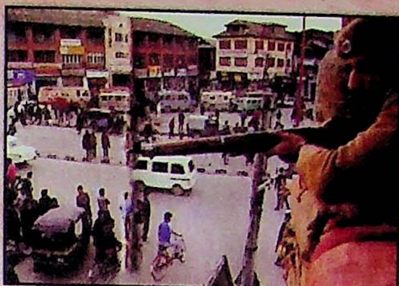
हम होटल पहुँचे। होटल डलगेट के पास, नेहरू पार्क के बिल्कुल सामने था। हमारे मित्रों ने वहीं बुकिंग करवाई थी। हमारा मन था, उस डल झील को देखने को, उसका आनन्द लूटना–आज बीस साल बाद। अतः होटल में जाकर मन प्रसन्न हुआ। अपने लोग, अपना स्नेह, अपनी आवभगत, अपनी कश्मीरी भाषा, डल झील की तरफ खुलने वाली खिड़की, यह सब हमारे कमरे और होटल की खासियत थी। जलपान के बाद हमने अपने मित्रों से कहा कि हम श्रीनगर देखने चलेंगे, अपना पुराना घर देखने, हब्बाकदल, गणपतयार और वे हमारे साथ चल दिये।

हब्बा कदल पर पहुँच कर मेरा हृदय सुन्न हो गया। पल भर के लिए मानो गति रुक गई। मैं उस कदल को देखती रह गई। नया कदल बना हुआ था। पुराना कदल वहीं था। वहां बहुत कम लोगों की आवाजाही थी। कभी यह जगह श्रीनगर का सबसे व्यस्त कदल होता था। पैदल चलने वालों का हजूम, नीचे बैठी, 'मछली', 'गाठगोभी', 'हाख', 'सुचंल', 'सिंघाड़े' बेचने वाली, वहां कहीं भी नहीं थी। आवाजें लगाती अपने ग्राहकों को आर्कषित करते, बे स्वर न थे। आतंकवाद के कारण, हिन्दू उजड़ चुके थे। वहां बस्तियां ही नहीं थी, अतः पुल पर सामान बेचने वालों के लिए खरीदार नहीं थे। वहां चौंक पर कोई वृद्ध बैठे, अखबार पढ़ नहीं रहे थे। हब्बा कदल चौंक पर बंकर थे। मिल्ट्री वालों की तनी बन्दूकें थी, चौंक पर सब दुकानें बन्द थी। उन पर बड़े–बड़े ताले थे। यह ताले जंग से भरे हुए थे। लगता था, इन तालों को शायद दशकों से किसी ने खोला नहीं था। बाजार के मकान खाली थे, खिड़कियां जली हुई थी। मैं भौंचक्की सी देखती रही। मयसूमा बाज़ार से चीकराल मोहल्ले जाने वाला सारा बाज़ार, आज एक आम गली की तरह लगा। वे टांगें, मैटाडोर, टैम्पू, गगुर कुछ भी इधर–उधर भाग नहीं रहे थे। वह पी पी करता हुआ टैम्पू वाला, टैम्पू कहीं भागता नहीं दिखाई दे रहा था। कभी किसी सवारी को चढ़ा और किसी सवारी को उतार नहीं रही था। सब शान्त था, उजड़ा सा। यही मुझे याद था, युवतियां इठलाती हुई इधर–उधर भागा करती थी। बच्चे स्कूल के बड़े–बड़े बस्ते ले स्कूल जाया करते थे। आज कुछ भी तो नहीं था। स्कूल जला हुआ था। बाज़ार बन्द था, वह 'नदिरमोंज' बेचने वाला हलवाई, ऊन बेचने वाला हमारा दोस्त, कहवा, बारिमुठ, दालें बेचने वाला पंसारी, वह नानवाई, कोंग बेचने वाला, कम्पाउडर की दुकान, जो एक बड़े डाक्टर की दुकान लगती थी, दूध, दहीं बेचने वाली ग्वालन और कपड़े बेचने वालों की दुकानें, मेरे अपने सब कोई न थे। यह सब वीरान था। वह सबसे व्यस्त बाज़ार आज एक साधारण सड़क बन कर रह गया।

गणपतयार में मेरा घर ससुराल का घर देख आंखों में आँसू आ गये। जहां मेरा यौवन बीता था, वह खण्डहर था, आज वहां कुछ भी न था। हमारे पड़ोसी भी न थे। मेरे मकान की इंटें तक लोग उठा कर ले गये थे। चार दीवारी टूट चुकी थी। फुलवारी उजड़ चुकी थी। वहां आंगन में नलका भी न था। हौदी में कीचड़ था। वह फलता फूलता घर आज वीरान था। घर के



भूमि पूजन श्रीनगर 1989
जो कभी घर न बन सका



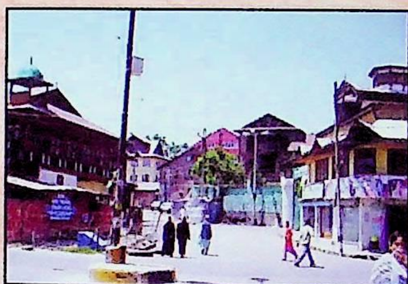
लालचौक 1998
बन्दुकों तले



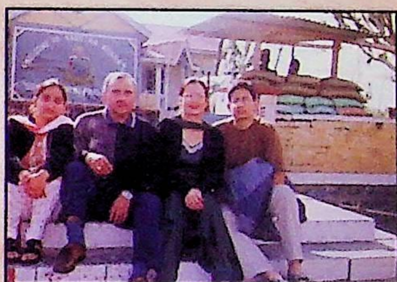
गुलमर्ग 2006
बिना सैलानी



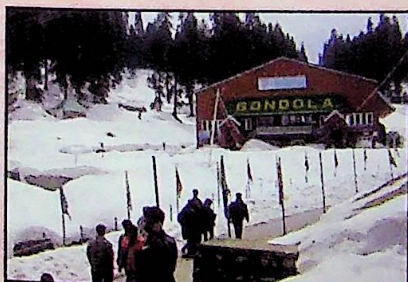
खिलनमर्ग 2006
बिना सैलानी



श्रीनगर शहर 2006
बंकर



डल झील कौतरखाना 2005
बंकर



घन्डोला खिलनमर्ग 2006
गिने-चुने सैलानी



खूनी नाला 2006



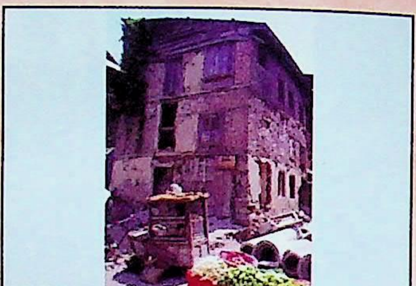
जला हुआ मकान 2006
सूना



जला हुआ मकान 2006
वीराना



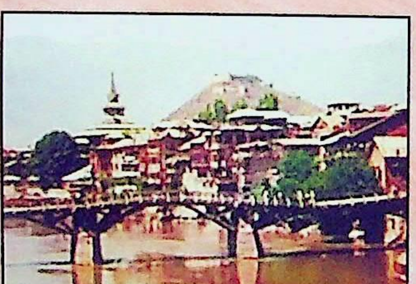
रघुनाथ मन्दिर - हब्बा कदल 2006
मेरा बचपन



जला हुआ मकान 2006
उजाड़



पुल 2005
टूटा हुआ



हरिपर्वत, सफाकदल 2005
हमारे बिना



कश्मीरी पण्डित कैम्प में 1992



कश्मीरी पण्डित कैम्प में 1990

बाहर ग्वाला, कानदुर, करं (चने) बेचने वाले भी न थे। वह दर्जी भी न था, जिससे मैं कपड़े सिलवाया करती थी। गणपतयार मन्दिर के सामने बंकर थे, जहां एक सरदार फौजी पहरा दे रहा था। उनके घर भी जले हुए थे। गली में अतिक्रमण था। वह और संकरी हो गई थी। मेरे लिए यह एक ह्रदय विदारक दृश्य था। मन भर आया। सब कुछ तो खत्म हो चुका था।

मैं अपनी दादी के घर रघुनाथ मंदिर, बूआ के घर चीक्राल मुहल्ला नहीं जा सकी, क्योंकि वहां संकरी गलियां थी, कार जा नहीं सकती थी और हालात की दहशत मन में रख पैदल जाना सम्भव न था। भारी मन से हम वापिस होटल की तरफ वापिस चले पड़े, टांकी पुरा की सड़क से बडशाह कदल की तरफ आये। 'प्रदर्शनी स्थल' सबसे अधिक चहल पहल वाली जगह जल चुकी थी, एक वीरान क्षेत्र थी। वहां कोई बाज़ार न था, न कोई कश्मीरी आर्ट की वस्तुएं बेचने वाले थे।

अमीरा कदल में कोई ट्रैफिक जाम न था, लाल चौंक बन्दूकों की आढ़ में था। वह एक छावनी लग रही थी। दुकाने खुली थी, परन्तु टूरिस्ट और ग्राहक न थे। अमीरा कदल के तीनों सिनेमा हाल जले हुए थे। रेजीडैंसी रोड की मार्किट सूनी थी। कोई–कोई सैलानी नज़र आ रहा था। कारों की आवाज ही थी, परन्तु पैदल लोग कम थे। हम पोलोग्राऊंड की तरफ आये, वे लम्बे पोपुलर के पेड़ वहीं थे, परन्तु गहमा गहमी न थी। शान्त सा शहर था श्रीनगर जैसा कि एक तूफान के बाद, या तूफान के आने से पहले होता है।

शाम को हम डलगेट पहुँचे। डल झील को देखा, नाविक पुकार रहे थे। नावें पहले से थोड़ी कम थीं। दूर–दूर तक हाऊस बोट दिख रहे थे। नेहरु पार्क खाली था। वहां इक्का दुक्का शिकारे खड़े थे। जलपान गृह बन्द था, शायद अभी टूरिस्ट सीज़न शुरु नहीं हुआ था। हम नाव में बैठे, हमें नाव के दाम के लिए आग्रह नहीं करना पड़ा। नाविक शान्त था। सवारी चाहता था। वह हमें डल झील में ले गया। मेरा डल सिकुड़ चुका था। अथाह सागर जैसा दिखने वाला डल, अब आर–पार दिखता था। वहां पर भी अतिक्रमण था। मकान बने हुऐ थे। 'कोतर–खाना' जो जन साधारण के प्रवेश जाने के लिए वर्जित जगह थी। 'प्राईवेट ज़ोन' लिखा था, कचरे और वीडस के साथ भरा पड़ा था। शायद यहां कभी सफाई ही नहीं की गई थी। हाऊस बोट खाली थे। उनके मालिक हाऊस बोट के ऊपर हुक्के गुडगुडा रहे थे। डल में वीडस बहुत थी, प्लास्टिक के लिफाफे बिखरे हुए थे। दो चार ही शिकारे घूम रहे

थे। कोई वाटर स्पोटर्स, मोटर बोट चल नहीं रही थी। चलते–चलते हम चार चिनारी पहुँचे। यह भी खाली थी। कोई जलपान गृह न था, न ही उसके बाहर सैंकड़ों शिकारे खड़े थे। बच्चों के झूले भी न थे। वहां कोई भी परिवार बैठा पिकनिक नही मना रहा था। चार चिनार आज तीन चिनारी बना हुआ था। उजड़े मंजर के दृश्य हर जगह देखने को मिल रहे थे। शिकारे वाला मुहम्मद उदास था। कह रहा था कि जीना दूभर हो गया था। उसकी जीविका का आधार केवल नाव थी। टूरिस्टों के न होने के कारण, आमदनी नहीं थी। बेटा बारहवीं पास था, पर कोई नौकरी न थी। उसके शब्दों में लाचारी का आभास साफ–साफ दिखाई दे रहा था। डल में हाऊस बोटों में मार्कीट खुली हुई थी, सैलानियों को आर्कषित करने के लिए, परन्तु सैलानी कहां थे? दुकानदारों के चेहरे भी उदास थे। हाथों से इशारे कर, हमें बुला रहे थे। उन्हें लगा होगा, शायद कोई खरीदारी करने आयेगा।

डल पार करने के बाद हम अपने मित्र के घर हवल गये। हवल श्रीनगर से बाहर 5 किलोमीटर दूर एक बस्ती है। हम उनके साथ हवल जाने का हौंसला कर सके। उसके घर की ऊँची–ऊँची चार दीवारी जता रही थी कि वे भी दहशत से प्रभावित हैं। मकान सुन्दर था और सबसे ज्यादा अच्छे थे उसमें रहने वाले लोग। वही प्यार, वही आवभगत, वहीं 'म्योन मरुंन छुव', वही गले लगाना, मछली और नानबाई की रोटी परोसना, कौंग चाय पिलाना और बार–बार एहसास करवाना, कि वे हमारे आने से कितने खुश थे। उनके हृदय में बनावट नहीं थी। स्नेह था, परन्तु हालात के कारण उदास थे। अपने मन की दहशत बता रहे थे। उनका जीवन सामान्य नहीं था। उनका प्रेम देख कर, अपना घर, मुहल्ला याद आ रहा था। अपने मित्रगण, पड़ोसी सभी तो ऐसा ही करते थे। जाते समय कश्मीरी शाल और बादाम भेंट में दिये। वह उनका हमारे प्रति असीम प्यार का प्रदर्शन था। गले मिलकर, आदाब कह कर हमने उनसे विदा ली और होटल की ओर चले। बिछड़ कर मन उदास हो गया।

रास्ते में हम करण नगर की तरफ से निकले जले हुए घर वही उजड़ा मंजर। सूनी सड़कें सब अजीब लग रहा था। मेरा होस्टल मैडिकल कालेज के आंगन में, करण नगर के सामने था। मेरा होस्टल टूटा हुआ था। वहां कुछ भी न था। मिल्ट्री वाले कालेज के गेट पर प्रहरी की भांन्ति खड़े थे। मेडिकल कालेज के बाहर बंकर थे और सैनिक उसकी सुरक्षा कर रहे थे।

उदास मन से हम होटल आये। हमारे मित्र हमें वहां छोड़ घर चले गये। हम दोनो कमरे में बैठे बाहर नेहरु पार्क को देख रहे थे। डल के बहते पानी के छपाक को सुन रहे थे। अपने–अपने ख्यालों में खोये, शायद बीते दिनों को याद कर रहे थे। वेटर ने हमारी बहुत सेवा की। कश्मीरी पंडित जानने के बाद कश्मीरी में बात करके आनन्दित हो रहा था, परन्तु वह मायूस था कि सेलानी कम थे। कुछ सालों से थोड़ा सा फर्क पड़ गया था। उसका घर बारामुल्ला के एक गांव में था। दस सालों से होटल में नौकरी कर रहा था। वेतन कम था। सैलानियों के कम होने से टिप भी कम थी। चार बच्चे थे, वे पढ़ रहे थे। उसके चेहरे पर उदासी थी, परन्तु हमारे प्रति प्रेम का अथाह सागर लगा। शायद उसकी भाषा में उसका दुख सुनने वाले हम पहले ग्राहक थे। तीनों दिन उसने हमारी प्रेमपूर्वक सेवा की और हमने उसे यथा शक्ति टिप भी दी। रात को खाने में वही वाज़वान था। जिसके लिए कई वर्षों से हम तरस रहे थे। चाहे हम खुद कितना भी अच्छा बना लें, परन्तु बावर्ची के बने वाज़वान का स्वाद अलग ही होता है। खाने के बाद हमें कहवा पीने को मिला, तो बहुत आनन्द आया।

सुबह उठ कर हमने अपने धर्म–स्थल देखने का मन बनाया। कार और ड्राइवर हमारे मित्रों ने भेज दिये। ड्राइवर प्रातः जल्दी पहुँच गया और हमारा इन्तज़ार कर रहा था। हम तैयार होकर कार में बैठे और जेष्ठा देवी के मंदिर की ओर चले। डल के साथ–साथ चलते हुए हम मंदिर पहुँचे। मंदिर के गेट पर बंकर था, जिसमें फौजी प्रहरी की भान्ति खड़ा था। हमारी चैकिंग हुई। हम मंदिर में गये। नवरात्रे चल रहे थे। पुजारी ने 'गौरी अम्बा' के गुणगान का कैसट लगा रखा था। चारों ओर से पहाड़ियों में स्थित, यह मन्दिर आध्यात्मकता का स्रोत था। मन्दिर जाकर हमने रतन दीप, कन्द और फूल लिये। मंदिर सूना था। हमारे अतिरिक्त एक परिवार और था। सैंकड़ों भक्तों से भरे रहने वाला मन्दिर आज खाली था। अन्तर मन में एक टीस सी उठी। परन्तु मां की देखभाल फौजी कर रहे थे। हमारा मन्दिर सुरक्षित था। दिल को एक सांत्वना भी मिली। पुजारी ने पूजा करवाई। हमने दूध, जल, फूल, 'नाग' में अर्पित किये। रतनदीप जलाये, जेष्ठा मां के दर्शन कर, मैने अपनी और अपनी संस्कृति को जीवित रखने के लिए आर्शीवाद मांगा, और हाथ जोड़ भावभीनी विदाई ली। ऐसा लगा जाने दुबारा आना होगा कि नहीं। बाहर निकले तो हमें फौजियों ने चाय पिलाई, और हलवे का प्रशाद दिया। वे

हमें बड़े ही स्नेह से मिले। उन्हें देख मन को एक आश्वासन मिला, कि यह स्थल अपनी गरिमा के लिए युगों तक सुरक्षित रहेगा।

जेष्ठा देवी के मन्दिर के बाद हम, हारी पर्वत गये। हारी पर्वत पर स्थित चक्रीश्वर मन्दिर अकेला था। वहां कोई भक्त जन न थे। सिन्दूर से सजी, सरस्वती गौरी जी की प्रतिमा चमक रही थी। उसे फौजियों ने सजाया हुआ था। दीप जल रहा था। एक आस्था जग रही थी कि शायद सब कुछ ठीक हो जायेगा। वहां वह चीलें न थी, जिन्हें हम 'बकवट शुशनोर' दिल और फेफड़ा' चढ़ाया करते थे। पुराने दिन याद आ रहे थे। तंहर और चखन की पिकनिक मनाने वाले आज यहां पर कोई न था।

भारी मन से हम खीर भवानी की ओर चलें। हमारा सबसे बड़ा धर्म स्थल, हमारी आस्था का केन्द्र हमारी आकांक्षा, बीस साल बाद आज हम वहां जा रहे थे। इन बीस सालों में, मैं अपने घर के मंदिर में रखी हुई, खीर भवानी की फोटो को देख, मां को पूछती थी, कि मां तुम अकेली हो, तुम्हें हमारी याद नहीं आती? मेरा अपना ही मन उत्तर देता था–कि यह त्रासदी का समय है, बीत जायेगा। हम कभी न कभी मां से मिल पायेंगे और आज वही समय आ गया था कि मैं खीर भवानी के मन्दिर में थी।

हम श्रीनगर से गांदरबल की तरफ चले। रास्ते में सरसों के खेत देखे। 'तील गगुल' यह मैने पहली बार देखे थे, क्योंकि हम इस मौसम में कश्मीर पहले कभी नहीं आये थे। पीली सरसों से दूर–दूर तक फैले खेत, हमारे लिए यह बहुत सुन्दर दृश्य था। गांधरबल से आगे चारों ओर लहलहाते धान के खेत वैसे ही थे, परन्तु सड़क के दोनों ओर दुकानें बन चुकी थी। कुछ नये मकान बने हुए थे जिनके कारण यह दृश्य देखने को कम मिले। हम खीर भवानी की पार्किंग में पहुँचे। दिल दहल गया। जिस जगह पर गांव की औरतें धान सुखाया करती थीं, वहीं पर आज बहुत से फौजी ट्रक खड़े थे। मां के दरबार पर जाने के लिए गेट पर दो बड़े–बड़े बंकर थे। जहां फौजी बन्दूकें लिए पहरा दे रहे थे। हम लोग यह सब पार करके अन्दर चले गये और मां के प्रांगण में पहुँचे। मन उदास हो गया। सदा सैंकड़ों श्रद्धालुओं से भरपूर रहने वाला मां का आंगन आज खाली था। वहां एक भी परिवार न था। एक हम और वहां का एक पुजारी था। बाहर गंगा की धारा में मिट्टी भरी हुई थी। जहां नहाना सम्भव न था। वह हलवाई जो, हमें 'वगुव, 'दूध', 'दीप', 'कन्द', 'प्रसाद' देता था, बाद में 'लुच्ची', 'नदिरमोंज', खिलाता था और कहवा

पिलाता था, कहीं न था। गेट पर व्यनं और फूल बेचने वाला बैठा था, परन्तु थोड़े से फूल, दो चार 'रतन दीप', आठ–दस 'कन्द' लेकर बैठा था। साफ दिखता था–उसके पास ग्राहकों की कमी है। शायद हमारी तरह कभी–कभी कोई कोई भक्त मां के दर्शन करने आता होगा। मां के आंगन में एक चिनार टूट चुका था, जहां पर हम बैठ कर पिकनिक मनाया करते थे। उसका चबूतरा भी न था। जहां समावार में चाय बनाया करते थे। सारा आंगन खाली था। सामने फौजी खड़े थे। खीर का प्रशाद बाँट रहे थे। वहां वे दो साल से रह रहे थे। कभी–कभी छुट्टी जाते थे। उनके भावहीन चेहरे, हमें उदास कर गये।

हमने मां के मन्दिर में जा कर पूजा की। रतनदीप जलाये। पंडित जी ने घंटी बजाई। मां गौरी का गुणगान उसी स्वर में किया, जो मैने बीस वर्ष पूर्व सुना था। वही लय, वही माधुर्य, उसी आस्था के साथ। कन्द मूल, फूल 'नाग' में अर्पित किये। दो आँसू बहाये, कि मां हमें माफ कर दो, हम तुम्हें अकेले छोड़ कर चले गये। परन्तु मुझे लगा, उसने हमें आलिंगन में ले लिया, दुलारा, पुचकारा। सांत्वना दी और आर्शीवाद दिया, योंकि उसे अकेला छोड़ने में हमारा कोई दोष न था। यह तो एक विडम्बना थी, जो हमें ले डूबी।

मां के 'नाग' का रंग लाल था। यह मैने पहली बार देखा था। नीला और हरा रंग तो हर बार देखा था। लाल रंग त्रास्दी को दिखलाता था। मानवता की त्रासदी जाने कितने गुरु जी वहां हुआ करते थे जो यज्ञशाला में यज्ञ करते थे। भक्तों के समूह को पूजा करवाने में सहायता करते थे। आज केवल एक गुरु जी थे। मैने पूछा आप यहां अकेले रह रहे हैं। परिवार कहां है? कहने लगे मां भवानी ने मुझे यहीं बुलाया है। परिवार जम्मू में रहता है। मां भवानी के सेवा करना ही मेरी जीविका का आधार और धेय है। मै मां को अकेला छोड़ कर जा न सका। कभी–कभी घर जाता हूँ।

गुरुजी को दक्षिणा देकर हम बाहर आये। हमारा हृदय भर आया। डोंगे में सामूहिक परिवार का आना, यहां हवन करना, जेष्ट अष्टमी को सैंकड़ों दियों के साथ मां की आरती उतारना, रतनदीपों के साथ ऊँ लिखना, सब पुरानी यादें याद आ रही थी। आज सब कुछ सूना था। नई धर्मशालायें बन रही थी। यज्ञशालायें बन रही थी, पर सब वीरान थे। ऐसा लग रहा था वहां प्रत्येक चीज़ हमें याद कर रही थी, चिनार शां शां कर रहे थे। यहां से बाहर आते समय मां को प्रणाम किया। कामना की कि वह हमें दुबारा बुला लें।

मन इतना उदास हो गया था कि हम दोनों कार में बैठ चुप चाप अपने ही विचारों में लीन थे। जाने क्या सोच रहे थे? कि कहां से हमारी संस्कृति शुरु हुई और कहां जाकर खत्म हो गई है?

वहां से हम गुलमर्ग की तरफ चले। रास्ते में बहुत सिक्योरिटी थी। हर किलोमीटर पर हमें रोका जा रहा था। यह हाई सिक्योरटी ज़ोन था, क्योंकि गवर्नर हाऊस वहीं था। फौजी हमें बड़े ही रौब से प्रश्न करते थे, कहां से आए हैं? कौन हो? परन्तु मुझे देख कि एक महिला भी बैठी है, चलने की आज्ञा दे देते थे। पल–पल रोक कर पूछना–मन को कचोट रहा था। क्या यह आज़ाद भारतवर्ष है? आतंकवाद का डर था। यही तो हमारी विड़म्बना थी।

टंगमर्ग तक पहुँचने पर धान की भीनी–भीनी सुगन्ध ने हमारा मन मोह लिया। टंगमर्ग पहुँच कर, पाईन ट्री और स्पर बिखरे बहुत अच्छे लगे। झरने बह रहे थे। कहीं–कहीं बर्फ के टीले थे। धीरे–धीरे कार गुलमर्ग तक पहुँची। दूर–दूर तक बर्फ गिरी हुई थी। सफेद चांदी की चादर, ऊपर से धूप छाँव करता हुआ सूर्य। मनमोहक दृश्य था, पर हज़ारों में होने वाले सैलानी आज सैंकड़ों में थे। दूर–दूर तक खुले कटोरीनुमा, बर्फ से ढके मैदान में गिरी बर्फ पर इक्के–दुक्के सैलानी थे। कुछ घुड़सवारी कर रहे थे। कोई स्लैज पर बैठा था। यहां मैने सैंकड़ों लोगों की भीड़ देखी हुई थी। मन उदास हो चला था। क्या भाग्य है इतनी सुन्दर जगह है, परन्तु दहशत के कारण यहाँ पयर्टक आ नहीं सकते।

घुमावदार सड़क पर हमने सैर की। 'रोप वे' की तरफ जाने लगे। एक घोड़े वाला मिला। घुड़सवारी के लिए आग्रह करने लगा। मन पसीज़ गया, तो घोड़ा ले लिया। हमें कश्मीरी देख बहुत खुश हुआ। मैने उसके साथ कश्मीरी में बातें की और वहां का हाल–चाल पूछा। कश्मीरी में बातें करने लगा, और घोड़े की लगाम पकड़ साथ–साथ चलाता रहा। वह उदास था। उसके पास थोड़ी ज़मीन थी। सर्दियों में बर्फ से ढ़क जाती थी। केवल घोड़ा ही जीविका का साधन था। सैलानी कम होने से आमदनी कम थी। जीना दूभर हो गया था। उसका बेटा अन्य लड़कों के साथ कहीं चला गया था। आज दो साल हो गये थे। वह लौट कर नहीं आया। उसे डर था कि वह या तो बार्डर पार कर गया था या फिर सिक्योरिटी की गोली से मारा गया था। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। शायद वह हमें कश्मीरी समझ कर अपना

दुःख बाँटना चाहता था। वह कह रहा था कि उसके गांव के आस–पासके घरों से कितने ही जवान लड़के घर छोड़ कर जा चुके हैं और वे लौट कर वापिस घर नहीं आये। वहां के लोग अपने ही घरों में दुबके हुए हैं। उदास हैं, परेशान हैं और वे अपने इन खोये हुए लालों को ढूँढने में असमर्थ हैं। अपने बिछड़े बच्चों की याद में दो कौर चावल भी उनके गले नहीं उतरते हैं। हमारा मन चीत्कार कर उठा। उसके बहते आँसुओं के साथ हमारी भी आँखें नम हो गई। हम उसे पैसे देकर उदास मन से आगे बढ़े। छोड़ आये पीछे उसे उसकी मज़बूरी के साथ जिसका उत्तर हमारे पास भी न था।

'रोप–वे' से हम ऊपर खिलनमर्ग पहुँचे, बर्फ पिघल रही थी। आनन्द आ रहा था। दूर–दूर तक बर्फ की श्वेत चादर से ढ़की घाटी, अत्यन्त सुन्दर लग रही थी, पर सैलानी केवल चालीस पचास थे। 'रोप–वे चेयर' कार ऊपर नीचे खाली आ जा रही थी। अतः लग रहा था कि अभी भी आनन्द लूटने वाले लोगों की कमी है।

उदास मन से वापिस चले, श्रीनगर शहर की तरफ। जाने हम क्या सोचते जा रहे थे? घोड़े वाले की हृदय विधारक कहानी ने, हमें उदास कर दिया था। यह दर्शाता था कि गांवों में भी जीवन सामान्य नहीं रहा है। लोगों के घर बरबाद हो चुके हैं। परिवार बिखर चुके थे। वे मानसिक रूप से टूट चुके हैं।

वापिस आकर हम निशात, शालीमार, परी चश्मेशाही महल गये। पता चला निशात और शालीमार तीन महीने बन्द रहते हैं। यह 13 अप्रैल को बैसाखी वाले दिन खुलते हैं वहां जाकर हमें आनन्द आया। फूलों की बहार थी, पेड़–पौधे लहलहा रहे थे। आसमान खुला था, पर कहीं पर भी चादर बिछा पिकनिक मनाते, समावार से चाय बनाते, लोग न थे। वह पुरानी यादें आज ताज़ा हो आयी थी कि हम सब मिलकर यहां पिकनिक मनाते थे। आज इन फुलवारियों को देखने के लिए पयर्टक इक्का दुक्का ही थे।

लाईट एंड साऊण्ड प्रोग्राम बहुत सालों से बन्द था। शाह जहां और जहांगीर बादशाह की आवाज़ें, वह पायल की झनकार, गिरते चिनारों की आवाज़े, प्रेम भरे शब्दों के स्वर, आज की जनता के लिए कुछ भी नहीं था। यह भी बादशाह जहांगीर और शाहजहां की तरह बीते कल की यादें थी।

हम मुगल बागों में घूम कर, चश्मेशाही का पानी पीकर होटल वापिस आये। ऊपर हाल में चाय पीने गये। परदे हटा कर हम नज़ारे देख रहे थे। सामने के टेबल पर दो युवक बैठे थे। वे हमसे बातें करने लगें। उन्होंने कहा आप कश्मीरी लगते हैं, परन्तु आपस में हिन्दी बोलते हो। हमने बताया हम कौन हैं। बीस साल बाद आये हैं। वे बड़े हैरान हुए। उनकी उम्र 22-24 वर्ष की होगी। वे उदास हो उठे। उन्होंने प्रश्न किया, कि क्या आपने यहां कभी सामान्य दिन देखे हैं? पहले तो हम प्रश्न समझ नहीं सके, फिर समझ आया, कि उनकी उम्र 22-24 वर्ष की थी, वे जब से पैदा हुए हैं, उन्होंने बंदूक और आंतकवाद ही देखा था। हमने उन्हें बताया कि हम तो यहां ही रहते थे। गणपतयार में घर था। सब कुछ हम लुटा चुके हैं। वे सुनते रहे, फिर एक लम्बा सा श्वास भर बोले, आंटी आप जानती हैं, हमने कालेज नहीं देखा। यहां स्कूल और कालेज सदा ही बन्द रहते हैं। हमें माँ–बाप, घर से बाहर निकलने नहीं देते थे। उन्हें हमारे लिए डर था। एक तरफ आतंकवादी हैं दूसरी तरफ सिक्योरटी। हम अविश्वास से निकल रहे हैं। हम भी डॉक्टर और इंजीनियर बनना चाहते थे, पर बन न पाये। हम आपस में स्कूलों की बातें करते हैं। कालेज तो हमने देखे ही नहीं। हम अपने मां–बाप से पुरानी बातें सुना करते हैं कि, आप और हम कैसे मिल कर रहते थे। प्यार था, चीज़ों का आदान–प्रदान था, आप लोग हमारे शादी विवाह में आते थे हम आपके घरों के सब त्योहार मनाने आते थे। उनका प्रश्न था–आंटी क्या ऐसा ही होता था? मैने कहां हां बेटा ऐसा ही होता था। हम आज उसी मोह से यहां आये हैं। अपनी मां को, अपने दोस्तों को, अपने वतन को देखने आये हैं। सब कुछ तो वैसा ही है, केवल दहशत् है। मौत का डर है। वे बड़ी आत्मीयता से मिले और फिर उठ कर आदाब किया और चले गये। हमारे मन पर एक अमिट छाप छोड़ गये।

रात को नींद नहीं आ रही थी। किसी ने पास का दरवाजा खटखटाया। मैं डर कर उठ खड़ी हो गई। मुझे लगा कि कोई हमें मारने आया है। धीरे–धीरे याद आया, हम होटल में है। यहां अपनापन है, सिक्योरटी है। हमें कोई मार नहीं सकता, तब जाकर नींद पड़ी।

कमरे में आकर मैने अपने पेपर प्रैजेन्टेशन की तैयारी करनी शुरू की। शाम के सात बजे थे। सब डॉक्टर आ चुके थे। सब हाल में जमा थे। वे श्रीनगर की स्त्री रोग विशेषज्ञ थीं। मेरा लैक्चर सुनने आई थी। लैक्चर शुरु

करने में कुछ तकनीकी देरी हुई। तब तक उनसे बातें की, अपना परिचय दिया और उनका लिया। वही अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, वही प्यार। वे हैरान थीं, कि मैं बीस साल बाद आई हूँ, कश्मीरी पंडित हूँ, कश्मीरी बोलती हूँ। उन्हें इस बात का आश्चर्य हो रहा था। अभी भी कश्मीरी बोलती हूँ। बड़े स्नेह से सब मिले, जैसे सब एक–दूसरे को पहले से ही जानते थे।

मैने लैक्चर शुरू किया। आठ बजे, मैने देखा वे कुछ बेचैन हैं, घड़ी बार–बार देख रहे हैं। मैने बोलना रोक कर पूछा, कि क्या बात है, तो उन्होंने बताया कि उन्हें देर हो रही है। यहाँ पर हम अधिक देर घर से बाहर, नहीं रह सकते। घर वालों के फोन आ रहे हैं। मेरा दिल धक से रह गया। मुझे याद आया मैं तो पंजाब में, या हिन्दुस्तान के किसी और शहर में नहीं हूँ, अपितु श्रीनगर में हूँ, और यहां रात में नीरवता होती है। सिक्योरटी और आतंकवादी दोनों का डर है। मैने उनकी बात समझ ली, और उन्हें आश्वासन दिया कि, मैं जितना भी संक्षिप्त कर सकती हूँ, करूंगी। उन्हें मेरा विषय सुनने की जिज्ञासा थी, परन्तु तकनीकी देरी के कारण, समय, बरबाद हो गया था। उनकी बेचैनी थमी, मैने संक्षिप्त से उन्हें समझाया और अपने विचार उनके सामने रखे, वे बड़ी एकाग्रता से सुनते रहे। उन्होंने मेरे बोलने के ढंग को बड़ा सराहा। उदास निगाहों से, जैसे वे अभी बहुत कुछ जानना चाहते थे। मुझे देखते रहे, परन्तु मजबूरी थी। मुझ से विदा हुए। एक अजीब सी विदाई–आजकल पढ़े लिखे लोग हाथ मिला कर विदाई लेते हैं। उन्होंने मुझे से 'नालमोत' करके (अलिंगन भर के) विदाई ली। यह हमारी परम्परा की निशानी थी। उन्होंने मुझ संग आत्मीयता दर्शायी। क्या हम कभी फिर मिलेंगे? यह प्रश्न उनकी आँखों में भी था और मेरी नज़रों में भी। मेरा मन कुछ दहल सा गया। उनकी बेचैनी को देख ऐसा एहसास हो रहा था, कि दिन भर घूम लेने के बाद शाम को सब कुछ सामान्य नहीं है।

हम कमरें में आये। परदे हटाये, सामने नेहरु पार्क था, साथ ही डल झील थी। पास में सड़क थी। बूँदाबांदी हो रही थी। आश्चर्य की बात थी कि सड़कें खाली थी। चाय, जलपान की दुकानें बन्द हो चली थीं। कोई कोई कार इधर उधर भाग नहीं रही थी। सैलानी कहीं भी सैर करते दिख नहीं रहे थे। डल के पानी की लहरों की छपाक की आवाज़ें हमें, डरा रही थी। दूर–दूर हाऊसबोटों में कोई–कोई बल्ब जल रहा था। पावर कट के कारण सड़क पर अंधेरा था। शां–शां की आवाज आ रही थी। झीगुर की आवाज़ें

सुनाई दे रही थी। मुझे ऐसा लगा जैसे कोई मौत का दैत्य आगे बढ़ रहा है, और सबको डरा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने घरों की ओर भागे जा रहे हैं। कहीं–कहीं मिल्ट्री की पैट्रोलिंग की सीटी की आवाज़ सुनाई दे रही थी। केवल आठ बजे थे, हम दोनों बाहर का मंजर देख कर, सुन्न हो गये थे। यह वही जगह थी जहां पर देर रात तक गहमा गहमी रहती थी। चाँदनी रात में डल झील में नौका विहार होता था। जलपान गृह में बैठने को जगह नहीं मिलती थी। आस–पास की कश्मीरी आटर्स की दुकानें देर रात तक खुली रहती थी। आज मुझे लगा बीस साल बाद डल गेट, पर मौत का सा सन्नाटा है, भयावह मंज़र है। यह मेरा कश्मीर था– बीस साल बाद।

सुबह उठे–हमने वापिस जाना था। सारा सामान बांध कर नीचे रिसेपशन में रखा, गाड़ी वाला अभी आया न था। हम बाहर डल की सड़क की मुंडेर पर बैठे, धूप सेक रहे थे। सामने होटल था, पीछे सुन्दर डल झील, पास में शिकारे। कलवाला शिकारे वाला मिला, पूछ रहा था, वापिस जा रहे हो? हमने बताया, 'हां हम वापिस जा रहे हैं।' उसने ऊपर हाथ करके अल्लाह से अपनी और हमारी सलामती की दुआ मांगी। वहां फेरी वाला आया। बैग लेने का आग्रह करने लगा। दाम ज्यादा मांगे। हमने कहा कि हम कश्मीरी ही हैं। बड़ा खुश हुआ। कहता है आपके लिए तो बिना दाम के हाज़िर है। फिर बातें करने लगा, कि क्या करें गुज़ारा ही नहीं होता। सैलानी नहीं हैं, माल बिकता नहीं है। वह शाल की कढ़ाई का काम करता था, उसमें उसे बहुत कम पैसे मिलते थे। उसने फेरी का काम शुरू किया। इसमें भी कमाई कम थी। उसका बेटा बारहवीं पास था। न वह शाल का काम करता था, न फेरी का काम। वह बेकार था। उसकी बेकारी ने, उसे तोड़ रखा था। वह फेरी वाला, समय से पहले ही बूढ़ा हो चला था। आज खुल कर पहली बार कोई बोला, "आप पंडित लोग तो चले गये हम से ज्यादा अच्छे रहे। आप एक बार उजड़े, हम तो यहां रोज उजड़ते हैं। हम रोज़ मरते हैं, तलवार की दो–धार पर जी रहे हैं, एक तरफ आतंकवादी हैं, दूसरी ओर सिक्योरटी। हमारा जीवन तो नरक बन कर रह गया है। हे अल्लाह! अब तो बस कर। हमारी परीक्षा का अन्त कर, और वह अपने आँसू पोंछ रहा था।" उसके वेबाक शब्दों ने मुझे एहसास दिलाया कि हम तो यूहीं रोते रहे, चिल्लाते रहे, मर गये लूट गये। उजड़ गये, हमने तो शून्य से शुरू किया, परन्तु मुझे लगा, कि हमने तो रूखी सूखी रोटी खाकर गुज़ारा किया, गरीबी में बच्चे पढ़ाये। इन बीस सालों में

घर बार बनाया, खुद को सम्भाला, परन्तु हम दहशत में नहीं जी रहे हैं। तलवार की दो–धार पर नहीं रह रहे। हम बंदूक की नोक के सामने खड़े नहीं हैं। मन ने मुझे समझाया देखो, उन्हें देखो, जिन्हें हम पीछे छोड़ आये हैं। वे जान हथेली पर रख कर जी रहे हैं। वे घर से निकलते हैं, जानते नहीं, कि हालात क्या होंगे? वे सही सलामत घर वापिस आ जायेंगे भी कि नहीं ? वहां शाम को मौत का सन्नाटा है। मौत का खौफ है। गरीबी है, चेहरे पर मायूसी है, आंखों में आंसू हैं, पर वे हमें याद करते हैं। पुराने दिन दोहराते हैं।

गाड़ी वाला आया, यही देख हम एयरपोर्ट की तरफ चल दिये और रास्ते में सोचते रहे। क्या हम अपनी धरती को फिर से स्वर्ग बना पायेंगे? क्या जन जीवन सामान्य हो जायेगा? हम अन्दर का भय निकाल पायेंगे? कश्मीर में रहने वाले हमारे भाई सब सुख की सांस ले पायेंगे? मौत के उस सन्नाटे को चीर पायेंगे? वह लोक गीत, वनवुन रौफ फिर मिल कर गायेंगे? मरने से पहले एक बार फिर आपस में प्यार से रह सकेंगे? क्या हम अपने घर वापिस जायेंगे? और अपने घर पंजाब में लौट आये।

यहीं था मेरा वतन, मेरा कश्मीर अतीत और वर्तमान।

"बिछड़ गया वतन, खो गया बचपन, यौवन मेरा,
ढूँढती हूँ गली-गली

लुट गया, जल कर राख हो गया, आशियाना मेरा,
मन का चैन ढूँढती हूँ गली-गली।"





आभार



मैं आभारी हूँ इन सब की, जिनके योगदान के बिना यह पुस्तक पूर्ण नहीं हो सकती थी।

श्री ओंकार नाथ जी वंगू एवं छोटी भाभी, श्री ब्रज किशन रैना एवं प्यारी, श्री हीरा लाल वंजू एवं प्यारी, श्री बी एल त्रिसल एवं ममी जी, डौली एवं अशोक जी, इन सबने मुझे लगभग एक सौ वर्ष पुरानी तस्वीरें ला कर दीं। इन लोगों ने मुझे कश्मीरी संस्क ति से अवगत कराया। तभी मैं उस सब को पन्नों पर दर्शा सकी। अविनाश पूरा समय हमारे साथ रहा। उसने कश्मीर का चप्पा चप्पा घुमाया और वहां आने का साहस दिलाया और आशा जिसने मुझे हौंसला दिया।

उन व्यक्तियों के दुलर्भ चित्र जिनके कारण आज मैं अपनी संस्क ति दोहरा सकी सहज श्री सहज भट्ट, श्री माधव भट्ट, दामोदर भट्ट, श्री शम्भूनाथ रैना, श्री विशम्भर नाथ स्वरूप, श्री जवाहर लाल नेहरु, श्रीमति कला रैना, श्री रामनाथ त्रिसल, श्री राधा किशन वंगू, अर्जन नाथ वंगू, रघुनाथ सफाया, श्रीमति कमला देवी, श्री मति मंज, श्रीमति भागेश्वरी त्रिसल, श्रीमति बड़माली, श्रीमति रुपावती, श्रीमति कमला नेहरु, श्रीमति काकनी, श्रीमति सुखमाली देवी, श्रीमति मौंगा, गुर्टू परिवार, वगूं परिवार, शकुन एवं भूषण लाल धर।

शक्तिराज एवं साधना, जिनके सोलह वर्ष पूर्व के विवाह की एक फोटो रील पलायन के कारण कहीं खो गई थी, सब कुछ कश्मीर में रह जाने के बाद अचानक बचे–खुचे सामान में मिली। उसे धुलवा कर पता चला कि वे उनके जीवन का अनमोल पल है, जो दुबारा लौट कर न आयेंगे, अतः उनके वे अनमोल पल मैने कश्मीरी विवाह के चित्रों में दिखाये।

विनोद वंगु एवं नीलम, अशोक वंगु ऊषा, अनिल वंगु एवं बबली, किरन कौल और जतिन्दर, रवि एवं अचला, निक्की एवं विजय गुर्टू इन्होंने अपनी संजोही धरोहर निकाल कर मुझे दिखाई और मैने उन्हें पुस्तक में चित्रित किया।

मेरी सासु व द्धा हैं। उनसे मैं अपने परिवार के बारे में पूछती रही। वे थोड़ी बहुत बीती बातें याद कर पाई और मुझे बता पाई।

सुभद्रा चाची के दहेज के बर्तन दिये। उनके चित्र लिये और उन से आर्शीवाद लिया।

तनीश, जो बीमार हो गया, दादी दादी चिल्लाता रहा, मैं उसे अलिंगन में ले चूमती रही और शून्य ताकती रही क्योंकि मैं विचाराग्रस्त थी।

पोश फोन पर ओ दादी, दादी चिल्लाती रही, और मैं उससे मिलने न जा सकी।

भारती हर पल पूछती। मां आपका काम कहां पहुँचा? और मुझे प्रोत्साहन देती रही।

पिंकी ने मेरा घर सम्भाला और सारे सामान जो मैने लोगों के घरों से इकट्ठा किया चित्र लिये और उन्हें क्रमानुसार लगाया।

संजीव एवं अनुज अपने पुत्रों का, जिन्होंने कश्मीरी संस्क ति को अपनाया और कश्मीरी होने का गर्व महसूस किया।

रीटा रैणा ने अपने पशमीने के 30 वर्ष पुराने दुरई और जामवार शालें, पुराने बर्तन दिखाये उनके मैने चित्र लिये और कश्मीरी कला का प्रदर्शन किया।

लीला जिसने मेरी सेवा की और मेरा आऊटडोर सम्भाला।

वीरपाल, जगदीश, सोनू सब ने मेरा सहयोग दिया।

डा० शेलजा जिसने मेरे मरीज जांचे और उन्हें संतावना।

डा० जसलीन जिससे मैने कश्मीर के चित्र लिये।

डॉ० बटू मेरे सहयोगी जिन्होंने मुझे अपनी कश्मीर यात्रा के चित्र दिये।

शिवा स्टूडियो और करण कम्पयूटर वाले का जो कौतुहल दिखाता था और मेरे चित्र कम्प्यूटर में सेट करता रहा।

विकास जिसने मेरी पुस्तक हिन्दी में टाईप की। वह मुझे बार–बार प्रोत्साहन देता रहा। मेरी हिन्दी को संशोदित करता रहा और समय पर काम करके दिया।

लोन परिवार का जिनसे मुझे असीम प्यार मिला और अपने हब्बा कदल मुहल्ले में रहने वाले दिन याद आये।

अपने मित्र मंजूर और मनसूर जिन्होंने हमारा आदर किया, प्यार जताया, सारा कश्मीर घुमाया एवं दुलर्भ चित्र भेजे। उनके साथ में अपने और उनमें कोई भिन्नता न पा सकी!

डल के किनारे होटल वालों का, जिन्होंने वाज़वान खिलाया। जिसकी हमें वर्षों से इच्छा थी। जिन्होंने हमारी यथाशक्ति सेवा की, जिसे हम भूल नहीं सकते।

उसी कुर्सी का जो मैने 35 वर्ष पहले 25 रूपए में खरीदी थी। जिस पर बैठ कर मैने अैम. डी. की पढ़ाई की। सब कवितायें लिखी और आज अपनी यह पुस्तक लिखी।

उस कैमरे का, जो मुझे चलाना नहीं आता था, परन्तु सारी तस्वीरें उससे खींचे।

चन्द्रकांता जिन्होंने कथा सतीसर नामक पुस्तक लिखी। जिनकी लेखनी मैंने बहुत कुछ सीखा।

मासिक पत्रिका कोशुर समाचार, इंडिया टुडे

गुरमीद, Organon India Pvt. Ltd. जिन्होंने मुझे पेपर प्रस्तुत करने के लिए कश्मीर आमन्त्रित किया।

Indopress का, राजा जी ने आवरण प ष्ठ की भूमिका रची।

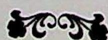
श्री अरून कुमार काज़ी, श्रीमती ऊषा अम्बारदार (Vice President, K.S.S. Chandigarh), श्री गिरधारी लाल, शीला कौल (President, K.S.S. Chandigarh) जिन्होंने मुझे प्रेरणा दिया।

राजेश वर्मा, जिनकी पुस्तक SIKKIM DARJEELING BHUTAN Guide and Handbook ने मुझे प्रोत्साहन दिया।

लिसी मैथ्यू , लिल्ली, मुकेश जिन्होंने मुझे सहयोग दिया।

नरेन्द्र भाटिया, NBC प्रकाशन जिन्होंने मेरी पुस्तक छापी।

अन्त में मैं धन्यवाद करती हूँ 'कश्मीर' का, जिसने हमें जन्म दिया और अपने देश भारत वर्ष का, जिसने पलयान के बाद हम सब को अपनाया और हमें पनाह दी।





डॉ० फूलचन्द्रा

डॉ० फूल चन्द्रा एक प्रतिष्ठित स्त्री रोग एवं विज्ञान विशेषज्ञ है। इनका जन्म 14 अप्रैल 1946 श्रीनगर कश्मीर में डॉ० रघुनाथ सफाया के घर हुआ। बाल्यकाल तथा मेडिकल की पढ़ाई का समय श्रीनगर में बिताने के कारण इन्हें कश्मीर के प्रति असीम अनुराग रहा।

इन्होंने **M.B.B.S.** और **M.D.** (स्त्री रोग एवं विज्ञान) की शिक्षा गर्वनमेंट मेडिकल कालेज, पटियाला (पंजाब) से प्राप्त की। इसी मेडिकल कालेज में स्त्री रोग विभाग से उच्चतम पद ग्रहण करने के बाद सेवा निवृत हुए।

इन्हें हिन्दी के साहित्य में विशेष रूची रही। इन्होंने प्रेम चन्द, शरद चन्द्र और रविन्द्र नाथ टैगोर का साहित्य पढ़ा, समझा और ग्रहण किया।

इनकी कविताएँ, कहानियाँ, लेख और समीक्षाएँ कई राष्ट्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय पत्र- पत्रिकाओं में छपती रही।

कश्मीर के प्रति असीम अनुराग बार-बार कविता के रूप में उभरता रहा। विस्थापन की पीड़ा से उत्पन्न दर्द शब्दों का आकार लेकर आया। बीस साल बाद कश्मीर जाने पर वह दर्द एक पुस्तक "मेरा कश्मीर-अतीत और वर्तमान" के रूप में परिवर्तित हुआ।

हमारे धर्म स्थल सूने पडे थे।
वहां फौजी पहरा दे रहे थे,
माँ खीर भवानी अकेली बैठी थी।
वहां चिनार का पेड नहीं था।
उसका चबूतरा भी न था,
जहां पर हम समावार में चाय बनाते थे।

चार चिनारी तीन चिनारी बन गई थी।
आज उजड़ी पडी थी।
वहां कोई शिकारा न था,
जलपान ग्रह न था, बच्चों के झूले न थे,
और न कोई परिवार पिकनिक मना रहा था।

